अंक 297 वर्ष 60

भाषा

जुलाई–अगस्त 2021

भाषा

जुलाई–अगस्त 2021

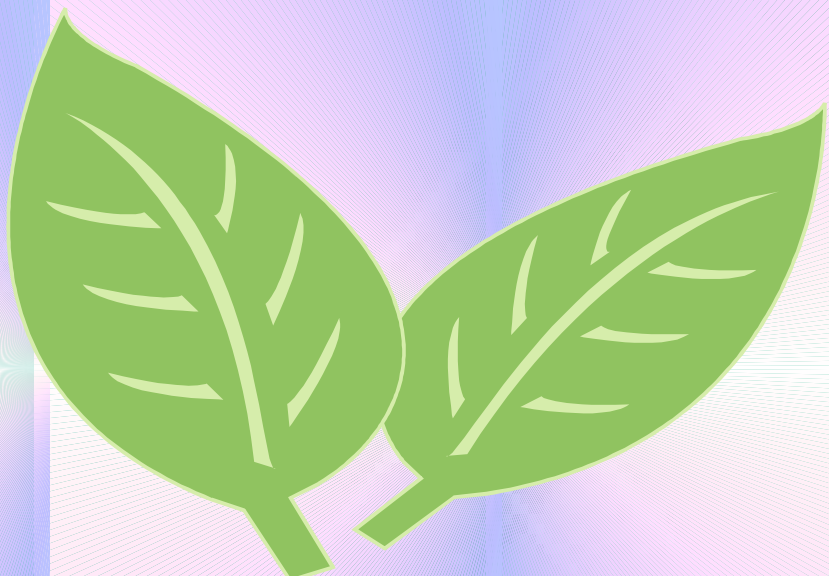

सत्यमेव जयते

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

भारत सरकार

भाषा (द्वैमासिक)

लेखकों से अनुरोध

1. ***भाषा*** में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध होनी चाहिए। रचनाएँ प्रायः टंकित रूप में भेजी जाएँ। हस्तलिखित सामग्री यदि भेजी जाए तो वह सुपाठ्य, बोधगम्य तथा सुंदर लिखावट में होनी अपेक्षित है। रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटोप्रति स्वीकार नहीं की जाएगी।

2. लेख आदि सामान्यतः फुल स्केप आकार के दस टंकित पृष्ठों से अधिक नहीं होने चाहिए और हाशिया छोड़कर एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए।

3. अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना अनिवार्य है। इससे रचना पर निर्णय लेने में हमें सुविधा होगी। मूल कविता का लिप्यंतरण टंकित होने पर उसकी वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ प्रायः नहीं होंगी, अतः टंकित लिप्यंतरण ही अपेक्षित है। रचना में अपना नाम और पता हिंदी के साथ–साथ अंग्रेजी में भी देने का कष्ट करें।

4. सामग्री के प्रकाशन विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।

5. रचनाओं की अस्वीकृति के संबंध में अलग से कोई पत्राचार कर पाना हमारे लिए संभव नहीं है, अतः रचनाओं के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा, पोस्टकार्ड आदि न भेंजे। इन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी।

6. अस्वीकृत रचनाएँ न लौटा पाने की विवशता/असमर्थता है। कृपया रचना प्रेषित करते समय इसकी प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

7. भाषा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी वर्तनी का प्रयोग किया जाता है। अतः रचनाएँ इसी वर्तनी के अनुसार टाइप करवाकर भेजी जाएँ।

8. समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

संपादकीय कार्यालय

संपादक भाषा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110066

भाषा

जुलाई–अगस्त 2021
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित पत्रिका (क्रमांक–16)

अध्यक्ष, परामर्श एवं संपादन मंडल
प्रोफेसर रमेश कुमार पाण्डेय

परामर्श मंडल
प्रो. योगेंद्र नाथ शर्मा 'अरुण'
डॉ. पी. ए. राधाकृष्णन
प्रो. ऋषभ देव शर्मा
प्रो. मंजुला राणा
प्रो. दिलीप कुमार मेधी
श्रीमती पद्मा सचदेव
श्री हितेश शंकर

संपादक
डॉ. राकेश कुमार

सह–संपादक
डॉ. किरण झा
डॉ. शालिनी राजवंशी

प्रूफ रीडर
श्रीमती इंदु भंडारी

कार्यालयीन व्यवस्था
सेवा सिंह

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

ISSN 0523-1418
भाषा (द्वैमासिक)
वर्ष : **60** **अंक : 4 (297)**
जुलाई–अगस्त 2021

संपादकीय कार्यालय
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12

बिक्री केंद्र :
नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, सिविल लाइंस,
दिल्ली - 110054
वेबसाइट : www.deptpub.gov.in
ई–मेल : pub.dep@nic.in
दूरभाष : 011-23817823/ 9689

सदस्यता हेतु ड्राफ्ट नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, दिल्ली के पक्ष में भेजें।

बिक्री केंद्र :
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12
सदस्यता हेतु ड्राफ्ट निदेशक, कें. हिं. नि.,
नई दिल्ली के पक्ष में भेजें।

मूल्य :

1.	एक प्रति का मूल्य	=	रु. 25.00	**(डाक खर्च सहित)**
2.	वार्षिक सदस्यता शुल्क	=	रु. 125.00	
3.	पंचवर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 625.00	
4.	दस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 1250.00	
5.	बीस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 2500.00	

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे भारत सरकार या संपादन मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

निदेशक की कलम से

संपादकीय

आलेख

1.	भारतीय साहित्य का प्रतिफलित आशय	डॉ. मनीष कुमार मिश्रा एवं डॉ. उषा आलोक दुबे	9
2.	स्त्री पीड़ा और बाल मनोविज्ञान की मार्मिक कथा 'गुलकी बन्नो'	पंचराज यादव	14
3.	क्या साहित्य बंद कमरे में पढ़ाया जाना चाहिए	डॉ. हरेंद्र सिंह	19
4.	ओड़िशा के जनजातीय यथार्थ : साहित्य बनाम लोक	निहारिका मिश्र	22
5.	हिंदी जाति की अवधारणा और डॉ. रामविलास शर्मा	डॉ. प्रफुल्ल कुमार	26
6.	सुमित्रानंदन पंत का प्रकृति प्रेम	डॉ. रवि शर्मा 'मधुप'	30
7.	आदिवासी हालात और जनसंघर्षों की पड़ताल	केदार प्रसाद मीणा	34
8.	बाज़ारीकरण के दौर में वैश्वीकरण का संकट	बिर्ख खडका डुवर्सेली	41
9.	दक्षिण प्रांतों में राजभाषा हिंदी का वर्तमान	डॉ. के. श्रीलता विष्णु	44
10.	अवधी भाषा के लोकगीतों में समाज और संस्कृति	डॉ अमिता तिवारी	49
11.	पत्रकारिता एवं जनसंचार के माहौल में हिंदी के बढ़ते रोजगार	रजत रानी मीनू (आर्य)	55
12.	हिंदी सिनेमा में स्त्री निर्माता–निर्देशकों की भूमिका (निर्देशक अपर्णा सेन के संदर्भ में)	डॉ. विधि शर्मा	60
13.	द्विजदेव की काव्यभाषा	डॉ. प्रदीप कुमार	66
14.	छंदमुक्त काव्य और नई कविता	डॉ. अमृत कुमार	72

साक्षात्कार

15.	हिंदीतर भाषी वरिष्ठ बालसाहित्यकार डॉ. शकुंतला कालरा का साक्षात्कार	डॉ. वेद मित्र शुक्ल	79

एकांकी नाटक

16.	स्यमंतक की खोज	डॉ. दादूराम शर्मा	90

कहानी

17.	जन्नत	डॉ. पंकज साहा	98

18. कत्लगाह — दिलीप कुमार — 105

कविता

19. अकेली लड़की कमजोर नहीं होती — निवेदिता झा — 110
20. परछाईं — संतोष श्रीवास्तव 'सम' — 112

अनूदित खंड

कहानी

21. अंजीर (पंजाबी कहानी) — प्रो. फूलचंद मानव — 113
अनुवाद : प्रो. योगेश्वर कौर
22. सहने की सीमा (मैथिली कहानी) — अनुवाद : गंगेश गुंजन — 116

कविता

23. चाँदमाला (बांग्ला/हिंदी) — सुनील गंगोपाध्याय — 122
अनुवाद : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'
24. कविता (ओड़िया/हिंदी) — डॉ. मनोरंजन विसोई — 126
अनुवाद : यज्ञदत्त सामंतराय

परख

25. समय सापेक्ष दोहा–संग्रह 'दर्पण समय का' (दर्पण समय का/ हरीलाल 'मिलन') — डॉ. कल्पना शर्मा — 128
26. प्रेम की सौंदर्यानुभूति का सतरंगी संसार : पॉल की तीर्थयात्रा (पॉल की तीर्थयात्रा/ अर्चना पैन्यूली) — योगेंद्र सिंह — 131

संपर्क सूत्र — **140**

सदस्यता फॉर्म

निदेशक की कलम से

साहित्य मानव मन की अनुभूतियों को सहज ही अभिव्यक्त करता है। अन्यतम, मनोभाव पाठक और लेखक के बीच सेतु के रूप में एकाकार होते हैं। विकट, विषम परिस्थिति में हृदय की धनीभूत वेदना मनुष्य को विह्वल और संवेदनशील बनाती है। ऐसी विपरीत स्थितियों में साहित्य शीतल ठहराव का कार्य करता है। धरती के बड़े भू–भाग के किसी भी कोने से जब कथा, कहानी, कविता भावों को अभिव्यक्त करती है तब स्थान, समय और काल का भेद समाप्त हो जाता है और वह साहित्य समान रूप से पाठकों को प्रभावित करता है। साहित्य की इसी समरूपता और पुनीत सरोकार को आमजन तक पहुँचाने के वृहत् उद्देश्य की राह में कार्य करता हुआ केंद्रीय हिंदी निदेशालय की भाषा पत्रिका में निरंतर नूतनता को कायम रखते हुए पत्रिका के कलेवर में संजोने का प्रयास किया जाता है। ताकि पाठकों को अखिल भारतीय सौंदर्य से सुसज्जित साहित्य और साहित्य में रचे बसे संसार और उसमें निहित समाज और संस्कृति की झलक अपने नैसर्गिक स्वरूप में उपलब्ध हो। उत्तर भारत की संस्कृति की झलक उसी ताज़गी और बानगी के साथ देश के अन्य प्रांतों तक पहुँचती है जिस प्रकार दक्षिण, भारत पूर्व और पश्चिमी प्रांत की संस्कृति विराजमान होती है। समाज, संस्कृति एवं विभिन्न पहलुओं को समेटे हुए आलेख भाषा में अपना स्थान बनाते हैं। अनूदित कहानी और कविता भी पाठकों को अनूठा आस्वाद प्रदान करती है।

संपूर्ण देश में कोने–कोने में हिंदी पुस्तकों का सृजन हो रहा है। इन पुस्तकों में निहित साहित्य को पाठकों तक पहुँचाने हेतु पुस्तकों की समीक्षा के रूप में परख को भाषा में स्थान दिया जाता है। वहीं कवियों, साहित्यकारों के साक्षात्कार के माध्यम से रचनाकार की साहित्यिक पृष्ठभूमि और साहित्य सृजन यात्रा पर प्रकाश डाला जाता है।

विभिन्न शैली और विधा को संजोए हुए भाषा निरंतर अपने पथ पर अग्रसर है। सुधी पाठकों के समक्ष भाषा का नया अंक प्रस्तुत है। आपके सुझावों का सदैव स्वागत है।

रमेश कुमार पाण्डेय

प्रोफेसर रमेश कुमार पांडेय

श्रियः प्रसूते विपदः रुणद्धि, यशांसि, दुग्धेमलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कार सौधेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः कित कामधेनुः।।

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशा विद्या गुप्तं धनं स्मृतम।।

संपादकीय

आप सबको विदित ही है कि पिछले कुछ महीने गहरे मानसिक तनाव और चिंता में व्यतीत हुए हैं। नए वर्ष 2021 में लोगों ने राहत की साँस लेना प्रारंभ ही किया था कि कोरोना की दूसरी लहर भयानक रूप में हमारे सामने आई और आम जन–जीवन को अस्त–व्यस्त करके रख दिया। कोरोना संक्रमितों की अस्पतालों के बाहर लंबी–लंबी लाइनें, उचित इलाज के अभाव में दम तोड़ते रोगी और लाशों से पटे हुए श्मशानों के दृश्यों से सभी का मन व्यथित हो उठा। ऐसे में भी कुछ अप्रिय घटनाओं ने इंसानियत को शर्मसार करके रख दिया। संतोष की बात है कि कोरोना की दूसरी लहर नियंत्रण में आ रही है। इस महामारी पर पूरी तरह नियंत्रण के लिए लोगों को अनुशासन एवं संयम दिखाना होगा।

वर्तमान आधुनिक वैश्विक क्रांति ने जहाँ सूचना प्रौद्योगिकी सहित जीवन के कई क्षेत्रों में आशातीत प्रगति की है वहीं मानवीय जीवन के समस्त पक्षों के भौतिकवादी एवं स्वार्थपरक तथा कुत्सित विचारधारा को भी विकसित किया है। मानवीय मूल्यों के सुपरिचित आदर्श विखंडित होते जा रहे हैं। राष्ट्रीय स्वाभिमान और विश्वबंधुत्व की गरिमामयी मर्यादा को भी ठेस पहुँची है। सर्वत्र सामाजिक विघटन के पीड़ादायक दृश्य नित्य प्रति दिखाई पड़ रहे हैं जबकि भारतीय सामाजिक जीवन पद्धति में आशा और विश्वास की लोक मंगलकारी मार्ग की अवधारणा रही है जो ईर्ष्या, नफरत, वैमनस्य और शोषण करना नहीं सिखाती। भारतीय समाज शांति, प्रेम, सद्भाव और विश्वबंधुत्व के ताने–बाने से बुना है। आत्मविश्वास, दृढ़संकल्प एवं स्वाभिमान की भावना से ही राष्ट्रीय एकता, अखंडता और सामाजिक पुनरुत्थान संभव है। शोषण, अनाचार और अत्याचार से मुक्ति द्वारा ही समाज की उन्नति संभव है। निजी स्वार्थ तथा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को त्याग कर ही हम समृद्ध एवं समुन्नत समाज तथा स्वावलंबी राष्ट्र की स्थापना करने में समर्थ हो सकते हैं। समस्त दुर्बलताओं को त्यागकर हम लोक सेवा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने का संकल्प लें।

विविध विषयों से समन्वित भाषा का यह अंक सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आपके अमूल्य सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी। आपके सुझावों से भाषा के आगामी अंकों को और बेहतर रूप में प्रस्तुत कर सकेंगे इन्हीं शुभकामनाओं के साथ।

(डॉ. राकेश कुमार)

कोई और कोई और कोई और––
और अब भाषा नहीं–
शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ–वहाँ होता हुआ तुम तक पहुँचे
चीजों के आरपार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक स्वच्छंद अर्थ दे
मुझे दे। देता रहे जैसे छंद केवल छंद
घुमड़–घुमड़कर भाषा का भास देता हुआ
मुझको उठाकर निःशब्द दे देता हुआ

–रघुवीर सहाय

मैं गौर से सुन सकता हूँ, औरों के रोने को
मगर दूसरे के दुःख को
अपना मानने की बहुत
कोशिश की, नहीं हुआ।

–श्रीकांत वर्मा

भारतीय साहित्य का प्रतिफलित आशय

डॉ. मनीष कुमार मिश्रा
एवं
डॉ. उषा आलोक दुबे

एक अखंड राष्ट्र के रूप में भारत का स्वरूप बहुवचनात्मक है। बाह्य विविधताओं से परिपूर्ण इस देश में कुछ आंतरिक मूल तत्व हैं जो इसकी अखंडता के लिए कवच के समान हैं। भारतीयता जैसी अवधारणाएँ इन्हीं प्रांजल तत्वों की खोह में सुरक्षित रहती हैं। पूरे विश्व में इस तरह का कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। ये तत्व ही प्रकाश के वे अंतःकेंद्र हैं जो पवित्र, निर्मल विचारों और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए साहित्य और संस्कृति के माध्यम से सच्चा बयान प्रस्तुत करते हैं। एक राष्ट्र के रूप में हमें ऊर्जावान, प्रज्ञावान और अग्रगामी बनाते हैं। यह भी सिखाते हैं कि दृष्टि के विस्तार में हम एक हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्ति में लिखा गया है कि

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् (अथर्ववेद 12–1–45)

अर्थात् बहुत से लोग कई भाषाएँ बोलते हैं और उनके कई धर्म हैं। अर्थात् हजारों सालों से यह भूमि बहुभाषी और बहुधर्मी रही है। रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में अनेकों संस्कृतियों के लोगों एवं उनकी भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन है। मध्यकालीन कवियों और संतों ने लंबी यात्राएँ की और अपने विचारों का प्रचार–प्रसार किया। गुरुग्रंथ साहब में अनेकों संतों की वाणी संग्रहित है। मीराबाई राजस्थानी, गुजराती और हिंदी के बीच सेतु का काम कर रही थीं। यही काम विद्यापति मैथिली और बांग्ला के बीच कर रहे थे। मैथिली विद्यापति की मातृभाषा थी लेकिन बांग्ला वाले भी उन्हें ब्रजबुलि अर्थात् बांग्ला भाषा के रचनाकार मानते हैं। रहीम और रसखान की ब्रजभाषा पर कौन मोहित नहीं हुआ।

फादर थॉमस स्टीफंस (1549–1619) ने मराठी में क्रिस्तपुराण/क्रिस्टा पुराण मसीह की कहानी को (1614 में पूर्ण और 1616 में प्रकाशित) कंपोज़ किया। महर्षि दयानंद गुजरात से थे लेकिन काम हिंदी में कर रहे थे। सखाराम गणेश देउसकर (1869–1912) मराठी भाषी थे जो बांग्ला में लिखते थे। आप प्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक, इतिहासकार और पत्रकार थे। आपको 'बंगाल का तिलक' भी कहा जाता है। अरविंद घोष 'स्वराज' के पहले प्रयोग का श्रेय भी देउसकर को देते हैं। आपकी प्रमुख रचनाओं में 'महामती रनाडे', 'झासीर राजकुमार', 'बाजीराव', 'आनंदी बाई', 'शिवाजीर महत्व', 'शिवाजीर शिक्षा', 'शिवाजी', 'देशेर कथा', 'कृषकेर सर्वनाश' इत्यादि शामिल हैं। स्वाथि थिरूनल केरल से गीत हिंदुस्तानी में भी लिख रहे थे। स्वाथि थिरूनल का जन्म सन् 1883 में हुआ था। तेरह वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने मलयालम, संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, तेलुगु, मराठी, कन्नड और हिंदुस्तानी भाषा में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली थी। राजा सरफोजी द्वितीय हिंदुस्तानी और पश्चिमी संगीत के संलयन का प्रयोग कर रहे थे। वे ओपेरा तमिल में कंपोज

कर रहे थे, विंड बैंड की तर्ज पर तंजोर बैंड बना रहे थे। राजा सरफोजी द्वितीय 1798 से 1832 तक तंजोर के शासक रहे। इस तरह हम पाते हैं कि देश के कई राज्यों में अनेकों लोग हैं जो एक से अधिक भाषा में लिख रहे हैं।

भारतीय क्षेत्रीय साहित्य किसी एक मूल तत्व को लेकर सबसे अधिक आंदोलित भक्तिकाल में दिखाई पड़ता है। सभी सगुण–निर्गुण संतों ने मानवता को जीवन के सबसे बड़े सत्य के रूप में स्वीकार किया है। आसाम में शंकरदेव, बंगाल में चंडीदास, उत्तर में सूरदास, तुलसीदास, कबीर और मीराबाई इत्यादि इसी क्रम में हैं। कर्नाटक में पुरंदरदास, तमिलनाडु में कंबन, चेरुश्शेरी केरला में, त्यागराज आंध्रा, तुकाराम महाराष्ट्र, नरसी मेहता गुजरात और बलरामदास ओड़िशा में इसी मानवीय भाव के गीत गा रहे थे। इनके पहले के रासो ग्रंथ, आल्हा गीत, पोवाड़ा इत्यादि के अंदर भी ऐसे ही राष्ट्रीय भाव थे। ठीक इसी तरह आगे चलकर पूरा भारत एक स्वर में आज़ादी के तराने बुन रहा था। नवीनचंद्र सेन द्वारा लिखित 'बैटल ऑफ प्लासी' का हिंदी अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त ने किया। काजी नज़रुल इस्लाम ने हिंदी में 'अग्निवीणा' लिखी। ऐसे कई रचनाकार रहे जिन्होंने क्षेत्रीय दायरे में अपने को समेटे नहीं रखा। कन्नड के पुटप्पा, गुजराती के नर्मदाशंकर दवे, असमिया के अंबिकागिरी रामचौधरी और सावरकर, इक़बाल इसके उदाहरण हैं।

जमीदारों द्वारा गरीबों, वंचितों के शोषण की कहानी भी भारतीय भाषाओं में प्रमुखता से चित्रित हुई। प्रेमचंद का 'गोदान', जसवंत सिंह का पंजाबी 'सूरजमुखी', व्यंकटेश दिगंबर माडगुलकर का मराठी उपन्यास 'बनगरवाडी', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आंचल', उर्दू में राजेंद्र सिंह बेदी की 'एक चादर मैली सी', बांग्ला में शरतचंद्र चटर्जी का 'पल्ली समाज', ताराशंकर बंदोपाध्याय की 'गणदेवता', आसाम के चाय बगानों पर केंद्रित बिरंचि कुमार बरुआ का उपन्यास 'सेउजी पटर कहानी'(1955), ओड़िया में फ़कीर मोहन सेनापति का 'छह माण आठ गुंठ', तेलुगु में उन्नवा लक्ष्मीनारायण का मालापल्ली, तमिल के अकिलन/पेरुंगळूर वैद्य विंगम अखिलंदम (पी. वी. अखिलंदम) की 'पावै विलक्कु', कन्नड के शिवराम कारंत/कोटा शिवराम कारंत का 'मरलि मण्णिगे', मलयालम के तकजि शिवशंकर पिल्लै/टी.एस.पिल्लै की 'रंटि टंगषी' (दो सेर धान) और गुजराती के पन्नालाल पटेल लिखित 'मलाला जीव' (मैला जीवन) इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

ऋतुओं के संदर्भ में कालिदास का 'ऋतुसंहार', गुरुनानक देव की 'तुखारी राग' तथा राजस्थानी, अवधी की 'बारहमासा' एक ही परंपरा का निर्वहन करते हैं। गुरुनानक देव ने तुखारी के बारहमाहा में वर्ष के बारह महीनों का सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया है। मलिक मोहम्मद जायसी भी इस परंपरा का निर्वहन पद्मावत में करते हैं। कार्तिक मास में नागमती की विरह–वेदना का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि–

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहै जारी।।
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा।।

सेक्स और हिंसा को किसी भी क्षेत्रीय साहित्य में उस तरह जगह नहीं मिली जैसे यूरोप में पिछले बड़े युद्धों के बाद मिली। ऐसा इसलिए क्योंकि भारतीय दर्शन जीवन की संपूर्णता में विश्वास करता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद (4/6) में वर्णन मिलता है कि दो सुंदर पंखों वाले पक्षी, घनिष्ठ सखा समान वृक्ष पर ही रहते हैं; उनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है, दूसरा खाता नहीं अपितु अपने सखा को देखता है। हमारा शरीर एक पीपल के वृक्ष समान है। आत्मा तथा परमात्मा सनातन सखा अर्थात् दो पक्षी हैं जो शरीर रूपी वृक्ष पर हृदय रूपी घोसलें में एक साथ निवास करते हैं। उनमें से एक तो कर्मफल का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

मानवीय उदारता का श्रेष्ठ साहित्य महाभारत को माना जा सकता है। अलग–अलग भारतीय भाषाओं में भिन्नता के बाद भी कुछ सूक्ष्म सूत्र ज़रूर हैं जो इसे जोड़ता है। देवताओं और मनुष्यों के बीच पुल बनानेवाले भारतीय ऋषियों, मुनियों, संतों एवं कवियों ने दिव्य और पावन के अवतरण की संभावनाओं को हमेशा जिंदा रखा। राम और कृष्ण के रूप में इन्होंने समाज को एक आदर्श, प्रादर्श और प्रतिदर्श दिया।

महाश्वेता भट्टाचार्य झाँसी की रानी पर बांग्ला में उपन्यास लिखती हैं। निराला शिवाजी पर उपन्यास लिखते हैं। टैगोर गुरुगोबिंद सिंह पर कविता लिखते हैं। सुब्रमण्यम भारती लोकमान्य तिलक पर कविता लिखते हैं। शांतिरंजन मुखर्जी गालिब को बांग्ला में अनूदित करते हैं। यह सब एक राष्ट्रीय छवि के निर्माण में महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखा जा सकता है। समानता, मनुष्यता, सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकात्मकता जैसे तत्व इन सभी भाषाओं के साहित्य में समान रूप से मिलते हैं। जब हम भारतीय साहित्य कहते हैं तो इसका अभिप्राय भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाओं एवं बोलियों से है। संथाल और मुंडा साहित्य के साथ–साथ फ़ारसी में लिखित खुसरो, गालिब और इकबाल के साहित्य को भारतीय साहित्य का ही हिस्सा समझा जाए। इसी तरह अंग्रेजी में लिखित भारतीयों का साहित्य एवं प्रवासी भारतीय साहित्य को भी उदारतापूर्वक स्वीकार करना होगा। कई विदेशियों ने भी भारतीय सभ्यता, संस्कृति और इतिहास इत्यादि को लेकर महत्वपूर्ण लेखन कार्य किया है, उनके प्रति भी हमें एक समझ विकसित करनी होगी। सिस्टर निवेदिता का 'The Web of Indian Life'(1904) इसी तरह का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

दरअसल भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य में जितनी भिन्नता है, वह विश्व का इकलौता उदाहरण है। शिल्प में इतनी भिन्नता के बाद भी संवेदना के स्तर पर इनमें बड़ी समरूपता है। यह एकरूपता आंतरिक है। इस देश में बाहरी रंग–रूप से कहीं अधिक महत्व आंतरिक गुणों को दिया गया है। अगर बाहरी रंग–रूप की समरूपता को महत्व दिया जाता तो राष्ट्रीय पशु के रूप में शेर को नहीं अपितु भैंसे को चुना जाता। भारतीय होने का अर्थ है मानवीय होना, कृतज्ञ होना। इस देश के अंदर रचा बसा सब कुछ इस देश का है। माईकल मधुसुदन दत्त, बंकिमचंद चटर्जी, मुल्क राज आनंद, आर. के. नारायण, मनोहर मलगाँवकर, अनीता देसाई, नयनतारा सहगल, तोरु दत्त, विक्रम सेठ, एलन सेली, अमिताव घोष, झुम्पा लाहिड़ी, चित्रा बनर्जी, अंरुधति रॉय, विक्रम चंद्रा, जैसे साहित्यकारों को उनकी अंग्रेजी भाषा की वजह से कमतर भारतीय समझना अनुचित है। ऐसे विचारों का परिमार्जन आवश्यक है।

मिथक और लोकसाहित्य को भारतीय साहित्य के दो अनिवार्य तत्व माने जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति की दो प्राचीनतम भाषाएँ संस्कृत और तमिल में भी आंतरिक आदान–प्रदान के सूत्र मिलते हैं। कई वैदिक देवी–देवताओं का उल्लेख तमिल साहित्य में भी मिलता है। 'संगम साहित्य' में भी समानताएँ परिलक्षित होती हैं। इंद्र और अग्नि जैसे देवताओं के नाम यहाँ भी मिलते हैं। कई संदर्भों में रामायण और महाभारत का उल्लेख भी मिलता है। देवी अहिल्या और ऋषि गौतम की कथा का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। तोंडरडिप्पोड़ियालवार ने अपने प्रबंध साहित्य में उस गिलहरी का वर्णन किया है जो सेतु समुद्रम में योगदान देती है। रामायण से जुड़ी ऐसी कई घटनाओं का भी उल्लेख है, जिनका वर्णन वाल्मिकी रामायण में नहीं मिलता। तोंडरडिप्पोड़ियालवार का जन्म विप्रकुल में हुआ। इनका दूसरा नाम विप्रनारायण है।

तमिल ग्रंथों में उडियनजेरल/उदियमजेराल नामक राजा की कहानी भी मिलती है जिन्होंने महाभारत के युद्ध के दौरान कौरव और पांडव दोनों ही सेनाओं को भोजन कराया। अहनानरु नामक तमिल ग्रंथ में सर्वप्रथम दक्षिण भारत में मौर्य आक्रमण का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी में

पल्लव साम्राज्य के समय तमिल साहित्य संस्कृत के अधिक निकट आया। दीनानाग, कालिदास, भारती, वराहमिहिर पल्लव साम्राज्य के समकालीन प्रसिद्ध साहित्यकार थे। संस्कृत, प्राकृत और तमिल भाषा का जैनों ने भरपूर उपयोग किया। मदुरई और कांची में उन्होंने बड़े–बड़े शैक्षणिक केंद्र स्थापित किए। तमिल साहित्य की एक श्रेष्ठ रचना के रूप में हम कंबन रामायण से परिचित ही हैं। चोल राजा कुलोतुंग तृतीय (1178–1202 ई.) के दरबार से जुड़े कंबन ने रामावतारम् (तमिल रामायण)/ कंबन रामायण की रचना की। इसी तरह अद्वैत सिद्धांत पर कैवल्य नवीनतम एक महत्वपूर्ण मौलिक कार्य है।

इसी तरह संस्कृत के 'शिवभक्ति विलास' का मूल स्रोत तमिल भाषा में लिखित 'पेरिया पूरनम' (सेक्किझर, 12वीं शताब्दी) है। सेक्किझर ने इसे संकलित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। राजा कृष्णदेव राय के समय में उनके अष्टदिग्गजों ने जो प्रबंध लिखे उनकी प्रेरणा संस्कृत साहित्य ही रहा। इसी तरह मलयालम साहित्य में संस्कृत के तत्सम शब्द मिलते हैं। यहाँ के निरानम कवियों ने तमिल और संस्कृत शब्द संपदा के साथ उत्तम साहित्य रचा। कूकासांडसम जैसी रचनाएँ कालिदास के मेघदूतम से प्रेरित हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में मलयालम तमिल भाषा से प्रभावित था। चिरमन का रामचरितम (12वीं शताब्दी) इसका उदाहरण है। निरानम कवियों में यह प्रभाव कम हुआ। निरानम कहे जानेवाले कवि थे माधव पणिकर, शंकर पणिकर और रमा नायक। इनका समय 1350 से 1450 ई. के बीच रहा। मराठी भाषा की बात करें तो 1188 ई. के आस–पास नाथपंथीय मुकुंदराज के 'विवेकसिंधु' की चर्चा सबसे पहले होती है, जो अद्वैत भक्ति से संबंधित हैं। इन्हें मराठी का आदिकवि भी माना जाता है। 1128 से 1200 ई. के बीच इनका जीवनकाल माना जाता है। 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' नामक इनके दो ग्रंथों की चर्चा मिलती है। ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' को कैसे भुलाया जा सकता है जो कि 1290 ई. के आस–पास की रचना मानी जाती है। कृष्ण पर केंद्रित वामन पंडित की रचना 'यथार्थदीपिका' भी बहुत महत्वपूर्ण है। नारायनदास कृत 'नारायण कीर्ति' और रत्नाकार कृत 'रत्नाकर' भी महत्वूपर्ण रचनाएँ हैं। मुगलकाल के संत एकनाथ के साहित्य से सभी परिचित हैं। रामायण पर केंद्रित सबसे अधिक ग्रंथ बांग्ला और मराठी में लिखे गए हैं। कवि गिरिधर के सात अलग संस्करण, माधव स्वामी का एक और मोरेश्वर रामचंद्र पराड़कर/मोरोपंत (1729–1794) के 108 संस्करण की बात अद्भुत हैं। वैसे मोरेश्वर रामचंद्र पराड़कर/मोरोपंत के लिखे 94–95 संस्करण मिलते हैं। बाकी के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। लेकिन एक ही व्यक्ति द्वारा रामायण को केंद्र बनाकर इतने संस्करण लिखना विलक्षण है।

19वीं शती के अंत तक मराठी भाषा में भी राष्ट्रीय गौरव का भाव अधिक प्रबल हुआ। विष्णु शास्त्री चिपलूंकर निबंधमाला में अपने लेख शुरू करने से पहले संस्कृत की कोई सूक्ति लिखते थे। प्राचीन कथाओं को समकालीन समस्याओं से जोड़ते हुए उपन्यास लिखने की परंपरा महाराष्ट्र से ही शुरू हुई। साने गुरुजी, जी. एन. दांडेकर और वी. एस. खांडेकर कुछ ऐसे ही उपन्यासकार थे। पांडुरंग सदाशिव साने (24 दिसंबर 1899–11 जून 1950) मराठी भाषा के प्रसिद्ध लेखक, शिक्षक, सामाजिक कार्यकर्ता एवं कर्मठ स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। वे साने गुरुजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपने 'कुरल' नामक तमिल ग्रंथ का मराठी अनुवाद किया। 'आंतरभारती' नामक संस्था की स्थापना साने गुरुजी ने प्रांत–प्रांत के मध्य चल रही घृणा को कम करने हेतु की। क्षेत्रवाद और प्रांतवाद भारत की अखंडता के लिए घातक है, इस बात को वे अच्छे से समझते थे। 'आंतरभारती' का उद्देश्य ही था कि विभिन्न राज्यों के लोग एक–दूसरे की भाषा और संस्कृति को सीखें, उनकी प्रथा, परंपरा और मान्यताओं को समझें।

गोपाल नीलकंठ दांडेकर/ जी.एन. दांडेकर (1916–1998) ने सौ से अधिक पुस्तकें लिखीं जिनमें 26 उपन्यास थे। 'स्मरणगाथा' के लिए आप को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला।

वी.एस. खांडेकर/विष्णु सखाराम खांडेकर (1898–1976) ने 'ययाति' सहित कुल 16 उपन्यास लिखे। जिनमें हृदयाची हाक, कांचनमृग, उल्का, पहिले प्रेम, अमृतवेल, अश्रु शामिल हैं। नाटकों के क्षेत्र में भी ऐसा ही प्रयोग हुआ। विष्णुदास भावे (1819–1901) ऐसे ही नाटककार थे। आपको मराठी रंगभूमि के जनक के रूप में भी जाना जाता है। आपने ही 1843 में 'सीता स्वयंवर' नामक मराठी का पहला नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया। रामायण को आधार बनाकर आपने विविध विषयों पर दस नाटक लिखे। 'इंद्रजीत वध', 'राजा गोपीचंद' और 'सीता स्वयंवर' जैसे नाटकों का लेखन और दिग्दर्शन आपने सफलतापूर्वक किया।

समग्र रूप में हम यह कह सकते हैं कि हमें अपनी मानवीय उदारता को और विस्तार देना होगा, ताकि विस्तृत दृष्टिकोण हमारी थाती रहे। निरर्थकता में सार्थकता का रोपण ऐसे ही हो सकता है। स्वीकृत मूल्यों का विस्थापन और विध्वंस चिंतनीय है। विश्व को बहुकेंद्रिक रूप में देखना ही देखने की व्यापक, पूर्ण और समग्र प्रक्रिया है। समग्रता के लिए प्रयत्नशील हर घटक राष्ट्रीयता का कारक होता है। जीवन की प्रांजलता प्रखरता और प्रवाह को निरंतर क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है। वैचारिक और कार्मिक क्रियाशीलता ही जीवन की प्रांजलता के प्राणतत्व हैं। जीवन का उत्कर्ष इसी निरंतरता में है। भारतीय संस्कृति के मूल में समन्वयात्मकता प्रमुख है। सब को साथ देखना ही हमारा सही देखना होगा। अँधेरों की चेतावनी और उनकी साख के बावजूद हमें सामाजिक न्याय चेतना को आंदोलित रखना होगा। खंड के पीछे अखंड के लिए सत्य में रत रहना होगा। सांस्कृतिक संरचना में प्रेम, करुणा और सहिष्णुता को निरंतर बुनते हुए इसे अपना सनातन सत्य बनाना होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. IDENTIFICATION OF COMMONNESS AMONG LETTER SETS OF VARIOUS LANGUAGES AND NUMERIC SYSTEMS FROM SANSKRIT. K.S. Vishwanath. Assistant Professor, Department of Aerospace Engineering, IIAEM, Jain University, Bangalore-562112.ISSN: 2320-5407 Int. J. Adv. Res.6(11), 1060-1068.

2. Postcolonial Indian Literature Towards a critical framework - Satish C. Aikant, Indian Institute of Advanced Study, Shimla, first published 2018.

3. Social Awareness in Modern Indian Literature - R. K. Kaul and Jaidev. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, first published 1993.

4. Literature and Infinity - Franson Manjali, Indian Institute of Advanced Study, Shimla, first published 2001.

5. भाषा का समाजशास्त्र– राजेंद्र प्रसाद सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। तृतीय संस्करण 2019

6. King Serfoji II of Thanjavur and European Music by Professor Indira Viswanathan Peterson, Mount Holyoke College, U.S.A, Journal of the Music Academy of Madras, Dec 2013.

– हिंदी व्याख्याता, के. एम. अग्रवाल महाविद्यालय कल्याण पश्चिम, महाराष्ट्र

– हिंदी व्याख्याता, एम. डी. महाविद्यालय, परेल, महाराष्ट्र

❑❑❑

स्त्री पीड़ा और बाल मनोविज्ञान की मार्मिक कथा 'गुलकी बन्नो'

पंचराज यादव

निर्मल वर्मा लिखते हैं– "जिंदगी और कला के बीच मंडराते हुए कहानी का सत्य शब्द में बिंधा रहता है यही शब्द वाक्यों में बिंधे रहते हैं और एक वाक्य दूसरे वाक्य की तरफ जाता हुआ ऐसा जाल बुनता है जिसमें जीवन की धड़कन को फांस लिया जाता है।"[1] धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो' का एक–एक वाक्य कुछ ऐसे ही जाल बुनता है एक स्त्री के जीवन की धड़कन के सत्य का जो अनेक सोपानों से होकर गुजरता है। यह सत्य समाज में व्यक्ति को सदैव मजबूती प्रदान करनेवाला मनोविकार है। जिसमें उसका स्वाभिमान और आत्म–प्रतिष्ठा जुड़ी होती है। जैसे साँस के लिए ऑक्सीजन की अनिवार्यता होती है वैसे ही उदात्त जीवन के लिए स्वाभिमान और प्रतिष्ठा आवश्यक होते हैं और नैतिकता इस कड़ी में विशिष्ट स्थान रखती है। इसका संबंध समाज और युगबोध पर आधारित माना जा सकता है। यही कारण है कि किसी युग विशेष में युद्ध को वीरता का पर्याय माना जाता है तो दूसरे युग में वह मानवता के लिए हीन समझा जाता है। इस तरह नैतिकता प्रत्येक काल विशेष में नए–नए रूपों में व्याख्यायित होती रहती है। स्त्रियों का सती हो जाना, जौहर कर लेना 14वीं और 15वीं सदी में नैतिकता का पर्याय था परंतु बाद में इन प्रथाओं पर रोक लगाना और जिंदगी जीने के लिए विभिन्न सामाजिक हितों का बचाव नैतिकता का मूल बिंदु स्थापित हुआ। 'गुलकी बन्नो' एक ऐसी ही नैतिकता बोध और कटु सत्य के बोझ से दबी स्त्री की कहानी है। इस कहानी का नैतिकता बोध पितृसत्ता द्वारा थोपा गया नैतिकता बोध है, यही कारण है कि गुलकी बन्नो सौतन के रहते हुए अपने पति की निम्नलिखित तिरस्कारपूर्ण बातें सुनकर भी उसे स्वीकार कर लेती है। "इसे ले तो जा रहे हैं परंतु इतना कहे देते हैं कि रहना हो तो दासी बनकर रहे न दूध की न पूत की औरतिया (सौतन) की सेवा करे उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू बुहारे, दो रोटी खाए पड़ी रहे पर कभी उससे जबान लड़ाई तो खैर नहीं हमारा हाथ बड़ा जालिम है।"[2]

विचार करें यदि यह कथन आप पर किसी स्त्री का हो तो आपको कैसा लगेगा? सभ्यताएँ बनी बिगड़ी फिर से बन रही हैं, यह क्रम अनवरत जारी रहेगा लेकिन इसमें जो नायक का रोल अदा करता है वह है मनुष्य, किंतु इस सामाजिक ढाँचे में स्त्रियों के लिए अलग मानक गढ़ा जाए और पुरुष को स्त्रियों से विशिष्ट तथा स्त्रियों को निम्न कोटि का दर्जा दिया जाए तो क्या आप चुप रह सकते हैं? कभी नहीं? लेकिन आपको चुप कराने के लिए पुरुष बड़ी सतर्कता से जाल बुनता है जहाँ स्त्री को चुप रहना ही है। इस जाल में फँसी हुई चिड़िया है गुलकी बन्नो इसीलिए आह भरकर कहती है–

"कुछ भी हो है तो अपना आदमी, हारे गाढ़े कोई और काम आवेगा क्या? औरत को दबाकर ही रखना चाहिए।"[3]

गुलकी के द्वारा कहा गया यह संवाद बड़े मनोविज्ञान की ओर इशारा करता है। पुरुष आप पर अत्याचार भी करता है आपको जस्टिफाई भी करता है और अपनी करतूतों की परत छुपाने के लिए आपके मन में यह विचार आरोपित करता है कि वह तुम्हारा हितैषी है इसलिए तुम्हें धिक्कार भी रहा है तब भी तुम पर उपकार कर रहा है और अंत में स्त्री यह स्वीकार कर लेती है कि हमारी गलती है। सीधे शब्दों में कहें तो वह जिस पर अत्याचार करता है उसी को आत्मग्लानि करवाने का मनोविज्ञान गढ़ता है ताकि कभी पुरुष के खिलाफ आवाज ना उठाई जा सके। इसी मनोविज्ञान को आलोचक रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में कहें तो "चिड़िया भी तुम्हारी पिंजरा भी तुम्हारा"।

'गुलकी बन्नो' कहानी धर्मवीर भारती के प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'बंदगली का आखिरी मकान' में संकलित है। इसका प्रकाशन 1955 ईस्वी में हुआ है। यह कहानी अंत तक अपनी संवेदनात्मक बुनावट एवं विषय वस्तु की रोचकता से सबकी आँखे नम कर देती है। गुलकी एक ऐसी स्त्री है जो अपने पति के द्वारा घर से इसलिए निकाल दी जाती है क्योंकि वह एक मरे हुए बच्चे को जन्म देती है। यह कहानी पाठकों से सवाल करती है, समाज से सवाल करती है। क्या एक मरे बच्चे के जन्म के लिए जिम्मेदार महज स्त्री होती है? क्या बच्चे को जन्म देना ही स्त्री का होना है? और उसकी उपस्थिति नहीं, कोई मूल्य नहीं है समाज में? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर मिलना आसान नहीं है और हमारा समाज स्त्रियों के प्रति इन्हीं धारणाओं से लगभग गिरा दिखता है। यह सारे मुद्दे कहानी में मनुष्य की परिवेशगत एवं कालगत सोच को बयाँ करते हैं।

जिस समय यह कहानी लिखी गई देश आठ नौ बरस की स्वतंत्रता को सहेजने में लगा था। रोटी, कपड़ा और मकान हमारे प्राथमिक मुद्दे थे। युगीन परिस्थितियाँ गुलकी को सौतन के सामने पति की नौकरानी बनकर रहने को विवश करती हैं क्योंकि उसके पास ना तो अपना जीवन चुनने की आजादी थी ना ही पति द्वारा छोड़ी गई स्त्री का समाज में कोई मूल्य था। वर्तमान समय में गुलकी जैसी स्त्री क्या मजबूरन रह सकती है। कहीं न कहीं आज भी इसका जवाब खोजना बालू से तेल निकालने जैसा है। हमें यह नहीं विस्मृत करना चाहिए कि फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'लाल पान की बेगम' 1955, निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' 1956, रांगेय राघव की कहानी 'गदल', 1955 इत्यादि महत्वपूर्ण कहानियाँ इसी कहानी के आसपास प्रकाशित हुईं। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के यहाँ आंचलिकता को मुख्यतः रेखांकित किया गया है। जबकि 'लाल पान की बेगम' कहानी नृत्यांगना के जीवन पर आधारित है, एक, गाँव में जिसे वेश्या के समकक्ष देखा जाता है। इस कहानी की खासियत यह है कि इसमें स्त्री अपने हक और अधिकार के प्रति सचेत है किंतु धर्मवीर भारती की गुलकी नियतिवादी प्रतीत होती है। गाँव का मनोविज्ञान जैसा रेणु के यहाँ दिखता है उससे कहीं कम नहीं ठहरता धर्मवीर भारती का गाँव और उसकी भाषा, बोली, बालकों की जुगलबंदियाँ, पड़ोसी की ईर्ष्या और एक निरीह स्त्री की प्रॉपर्टी पर नजर गड़ाए रिश्तेदारों की उपस्थिति। यह सब धर्मवीर भारती की कुशल ग्रामीण परख का परिचय देती है। रांगेय राघव की 'गदल' कहानी राजस्थान की गुर्जर जनजाति के पारिवारिक संबंधों की मार्मिक कहानी है जिसकी विधवा नायिका गदल पुरुषवादी पितृसत्तात्मक सोच के अपने देवर जो विधुर हो चुका है, को चुनौती देती हुई अपनी से नीची जाति के व्यक्ति के साथ चली जाती है। क्योंकि उसका देवर विधुर है और गदल भी विधवा है वह चाहती थी कि वह उसे स्वीकार कर ले परंतु वह लोकलाज और समाज के डर के मारे गदल को नहीं अपनाता इसलिए वह अपने से नीचे की जात के व्यक्ति के साथ चली जाती है। अगर वह ऐसा ना करती तो पूरी जिंदगी उसे विधवा का नारकीय जीवन बिताना पड़ता। यह कहानी एक स्त्री की स्वाभिमानी सोच का प्रतीक मानी जा सकती है। इन दोनों कहानियों 'लाल पान की बेगम' और 'गदल' की चर्चा गुलकी से जोड़कर देखना इसलिए भी जरूरी है कि एक ही देश काल में युगबोध कितनी भिन्नता से उपस्थित होता है। रेणु और रांगेय राघव की कहानियों में स्त्री समय से आगे

की सोच रखनेवाली है। धर्मवीर भारती के यहाँ सती नामक स्त्री में यह रूप मिलता है किंतु यह प्रमुखता से उभर कर सामने नहीं आता है। इसीलिए कुछ आलोचक इस शिथिलता को रेखांकित भी करते हैं। गोपाल राय का कहना है–

"गुलकी बन्नो हाशिए पर स्थित लोगों की विशेषकर पति द्वारा उपेक्षित अभाव, उपेक्षा और अपमान की जिंदगी जीनेवाली कुबड़ी औरत की कहानी है। कहानीकार ने उसे पूरी सहानुभूति दी है परंतु उसे विद्रोह करते क्यों नहीं दिखाया है यह बात समझ में नहीं आती।"[4]

गुलकी के पास सती जैसी विद्रोही स्त्री थी फिर क्यों वह पति के अत्याचार के खिलाफ खड़ी नहीं हो सकी? निस्संदेह यह प्रश्न कहानी को शिथिल करता है। वहीं सती को एक प्रोग्रेसिव महिला के रूप में रेखांकित करता यह वाक्य महत्वपूर्ण है–

"सती दो–एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरज कर बोली, यही कसाई है। गुलकी आगे बढ़कर मार दो चपेटा इसके मुँह पर! खबरदार जो कोई बोला।"[5]

इतना ही नहीं जब गुलकी पति का विरोध ना कर उसके चरणों में गिर पड़ती है तब भी सती का विद्रोही रूप देखने लायक था "उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ओर देखा और गुस्से में थूक निगलते हुए कहा कुतिया और तेजी से चली गई।"[6]

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि धर्मवीर भारती स्त्री और उसकी प्रगतिवादी सोच को सामने लाने में असफल रहे। यहाँ यह देखना महत्वपूर्ण है कि वे इस कहानी द्वारा गुलकी के माध्यम से तत्कालीन भारतीय समाज की सोच को सामने रखना चाहते थे। संभवतः पितृसत्ता का हावी रूप वे प्रस्तुत करना चाहते थे। कहानी की कथावस्तु प्रारंभ होती है 'ऐ मर कलमुँहे' संवाद से जो गाँव में किसी को चुप कराने या उसे डाँटने फटकारने का एक प्रचलित मुहावरा है और कहानी का अंत भी एक ग्रामीण गीत जिसे मुन्ना गाता है तुतलाते हुए स्वर में "बन्नो तली गई लाम, बन्नो तली गई गई लाम, बन्नो डाले दुपट्टे का पल्ला मुहल्ले से चली गई राम" से होता है। यहाँ एक बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि धर्मवीर भारती की इस कहानी में गाँव और गाँव की संस्कृति, रहन–सहन, बोली–भाषा, खेल–कूद, लड़ाई–झगड़ा, विवाह–गीत सब बड़ी प्रमुखता से उपस्थित होते हैं। अतः यह समझा जाना चाहिए कि वे इस कहानी में गाँव को प्रमुखता देते हैं, गाँव की संस्कृति को प्रमुखता देते हैं, स्त्री और उसके अधिकार कहीं ना कहीं कहानी में गौण प्रतीत होते हैं। इसलिए यदि स्त्री विमर्श की दृष्टि से यह कहानी पढ़ेंगे तो आप निराश होंगे। दूसरी प्रमुख बात गाँव में जमीन जायदाद को लेकर बड़ी लड़ाइयाँ और मुकदमेबाजी होती रहती है। इस समस्या के केंद्र में कोई परित्यक्त स्त्री कितना असुरक्षित होती है, उसके सामने क्या चुनौतियाँ होती हैं धर्मवीर भारती ने इस तरफ ध्यान केंद्रित किया है। एक गरीब और पति द्वारा छोड़ी गई स्त्री को यदि समाज में कही भी आश्रय मिलता है तो वहाँ स्वार्थ कहीं ना कहीं छुपा होता है। जो एक अन्य पक्ष इस कहानी में प्रमुखता से उभरा है वह है बाल मनोविज्ञान। बच्चों के मनोविज्ञान की एक पूरी दुनिया बसी है इस कहानी में मिरवा, मटकी, निरमल, मेवा, मुन्ना ये सारे बच्चे इस कहानी में अपने किरदारों से पाठक को बचपन की दुनिया और ग्रामीण आँख–मिचौली की परिक्रमा करवाते हैं। गुलकी क्यों इस गाँव में है उसकी तो शादी हो चुकी है बच्चे इस प्रश्न से आपसी कहासुनी शुरू करते हैं। सब अपने अनुसार सोचते हैं, कोई कहता है "इसका बाप चोर था सौ रुपया चुरा कर भागा था यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने वाली है रुपया चुराएगी तो यह भी मर जाएगी, मुन्ना ने कहा – भगवान सब को दंड देता है, निर्मल बोली – ससुराल में भी रुपया चुराई होगी, मेवा बोला – अरे कूबड़ थोड़ी है वही रुपया बाँधे है पीठ पर। मनसेधू का रुपया है सचमुच! निर्मल ने अविश्वास से कहा और नहीं क्या कूबड़ थोड़ी है, है तो दिखावे।"[7]

पति से ठुकराई गुलकी मायके में घेघा बुआ के यहाँ आश्रय पाती है। घेघा भी अपने पति ड्राइवर बाबू के इस निर्णय से सहमत नहीं थी कि गुलकी हमारे घर में रहे परंतु ड्राइवर बाबू की

उदारता से गुलकी को सहारा मिला। लेकिन जिंदगी किसी के घर मेहमान बनकर रहने से नहीं कट जाती जब आप पर कर्ज भी हो और पति का साया भी न हो। ऐसे में गुलकी एक दुकान खोलती है सब्जी की, बुआ के चबूतरे पर। चबूतरे पर गुलकी का दुकान खोलना बच्चों के लिए उनके साम्राज्य में किसी अज्ञात शत्रु का आना था क्योंकि यह स्थान उनके खेलने का प्रमुख स्थान था। यहाँ से गुलकी और बच्चों के बीच चिढ़ने–चिढ़ाने की गँवई खुशबू फैलती है। लेखक का मनोविज्ञान काबिले तारीफ है बच्चे किन–किन क्रियाकलापों पर अपनी स्वतंत्र धारणाएँ रखते हैं यह इतनी विविधता के साथ संभवतः प्रथम बार हिंदी कहानी में आता है। बच्चे गुलकी का विरोध कुछ इस अंदाज में करते हैं–

अपने देश में अपना राज
गुलकी की दुकान बाई काट

यह नारा मुन्ना अपनी साथी मटकी का बदला लेने के लिए गुलकी की दुकान के सामने लगाता है क्योंकि गुलकी ने मटकी द्वारा एक मूली माँगे जाने पर उसे नाली में धकेल दिया था। इस तरह बाल मनोविज्ञान के कई रोचक किस्से इस कहानी में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है–

कुबड़ी कुबड़ी का हेराना?
सुई हिरानी।
सुई लैके का करबे?
कन्था सीबै।
कन्था सीके का करबे?
लकड़ी लाबै।
लकड़ी लाय के का करबे?
भात पकाइबे।
भात पकाय के का करबे?
भात खाइबै।
भात के बदले लात खाइबे।[8]

कितना दिलचस्प है यह देखना कि बच्चों को सुई से लेकर हर छोटी बड़ी चीज का उपयोग भी पता है और उसे किस तरह अपने प्रयोजन में उपयोग करना है यह भी समझ उन्हें बखूबी है। वे प्रश्न और उत्तर अपने में ही कर रहे हैं गुलकी को महज सुना रहे हैं। यह उन्हें पता है कि गुलकी क्या उत्तर देगी और अंत में अपनी बातों से उसे कैसे पटकनी देना है यह मनोविज्ञान काबिले तारीफ है। लेखक की सोच का जवाब नहीं, उसने बच्चों के बोधात्मक स्तर को कितनी बारीकी से पकड़ा है।

बात कहानी के विस्तार की करें तो गुलकी के पिता ने गुलकी की शादी के लिए ड्राइवर साहब से कर्ज लिया था। इस बात का पता घेघा बुआ को जब चलता है तो वह उसे घर किराए पर देने से इनकार कर देती है "यह मुसीबत और खड़ी हो गई मर्द ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही ढोल गले बाँधेंगे। बाप अलग हम लोगों का रुपया खा गया, सुना चल बसा तो कहीं मकान हम लोग ना दखल कर ले, मरद को छोड़कर चली आई खबरदार जो चाबी दी।"[9] इस तरह यह कहानी ऋण की समस्या को भी उठाती है। न जाने कितने माता–पिता अपनी संतान की शादी के लिए कर्ज ले लेते हैं परंतु उन्हें चुकाना मुश्किल हो जाता है यह हमारे समाज का बुरा पक्ष है। सब कुछ झेलने के पश्चात् भी गुलकी पति के यहाँ पुनः जाने का निर्णय लेती है भले ही गुलाम बनकर। उसे मायके में छोटे–छोटे बच्चों से लगाव हो गया था यहाँ तक कि झबरी कुतिया जो उसकी दुकान के आस–पास घूमा करती थी वह भी अपनी यादें छोड़ रही थी। मुन्ना जो गुलकी को परेशान करनेवाली टीम का नेता था वह भी आज उदास है गुलकी को हमेशा के लिए जाते देख। गुलकी सब बड़ों के गले लग कर रो रही है अंत में मुन्ना को गले लगा कर चिपका लिया और फूट–फूट कर रोने लगी "हाय मेरे भैया! अब हम जा रहे हैं। अब किससे लड़ोगे मुन्ना। भैया! अरे मेरे बीरन अब किससे लड़ोगे?"[10] मुन्ना की आँखों से आँसू डबडबा के गिरने लगे। मिरवा ने विदा गीत गाया "बन्नो डाले दुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गई राम"। अंत में कहानी भावनात्मक एकता में सबको पिरो लेती है। यही भावनात्मक एकता हमारे भारतीय समाज की खूबसूरती है। कोई कितना भी विरोधी हो कितना ही स्वार्थी हो

जहाँ बात मानवीयता की आती है वहाँ व्यक्तिगत बातें गौण हो जाती हैं। यह कहानी अनेक सवालों को हमारे बीच में छोड़ जाती है तो कुछ सकारात्मक बातें भी रखती है। इसकी बुनावट में भाषा को अनदेखा करना बेईमानी होगी। विषयवस्तु को एक पल के लिए छोड़ दिया जाए तो आप इसकी मीठी गँवई भाषा से कभी ऊबते नहीं हैं। मुहावरे एवं लोकोक्तियों के साथ अवधीपन के शब्दों ने कहानी में मिठास भर दिया है विशेषणों का प्रयोग और देशज शब्दावलियों ने कहानी के भाव संप्रेषण में चार चाँद लगा दिए हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा, निर्मल, (2011), शताब्दी के ढलते वर्षों में, नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ सं. 95

2. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 147

3. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 145

4. राय, गोपाल (2019), हिंदी कहानी का इतिहास भाग–2, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं. 231

5. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 144

6. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 144

7. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 138

8. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 139

9. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 138

10. यादव, राजेंद्र (सं.) (2017), गुलकी बन्नो, एक दुनिया समानांतर, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं. 147

– शोधार्थी (हिंदी विभाग), तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम–784028

❑❑❑

क्या साहित्य बंद कमरे में पढ़ाया जाना चाहिए

डॉ. हरेंद्र सिंह

मेरे सामने यह सवाल तब उठा जब मैं कबीर के एक दोहे को पढ़ा रहा था जिसमें कबीर ने कहा था यह संसार सेमर के फूल की तरह है जिसकी शोभा चार दिन मात्र है। मैंने छात्रों से पूछा क्या तुमने सेमल का फूल देखा है? अधिसंख्य ने कहा नहीं। कुछ ने कहा देखा होगा पर नाम नहीं जानते।

फिर मैंने पूछा, अच्छा बताओ आप में से कितने बच्चों को मंदार पुष्प पता है?

सबने कहा नहीं देखा।

फिर मैंने पूछा, अच्छा हरसिंगार देखा है?

उत्तर नहीं था।

फिर तो मैं कालेज के प्रांगण में अपनी कक्षा ले गया। मैंने बताया ये हरसिंगार है जिसमें ये सफेद फूल है जिनके बीच में पीले रंग का, स्त्री केसर या पुंकेसर है, उन्हें बताया ये सेमल है जिस पर ये लाल रंग के बड़े फूल हैं, यही जब झड़ जाएँगे तो इनकी जगह कपास वाला फल लगेगा। जिसे तुलसीदास ने रामचरितमानस में निरस विशद गुणों वाला फल कहा। फिर मैंने बताया संस्कृत में इसे शाल्मली कहते हैं। कालिदास ने इसका बहुत बार वर्णन किया है। उज्जयिनी से सड़क के दोनों तरफ शाल्मली वृक्षों की क़तार का जिक्र किया। फिर मैंने उन्हें दिखाया मंदार पुष्प जो अपनी लालिमा से भरा पड़ा था जिसमें एक भी पत्ता नहीं था जिसको कालिदास ने वसंत का अग्रदूत कहा है। फिर उन्हें आम्र मंजरी और आम के पत्ते जो ताम्रपर्णी आभा लिए थे दिखाए। फिर दिखाया पलास, अशोक, गुलमोहर। इस तरह जब छात्रों से पेड़ों का परिचय कराया, तो छात्रों की जिज्ञासा, ज्ञान और आनंद सब बढ़ गया।

कन्फ़्यूशियस ने कहा था कि

मैं सुनता हूँ, और मैं भूल जाता हूँ,
(I hear, and I forget)
मैं देखता हूँ, और याद करता हूँ,
(I see, and I remember)
मैं करता हूँ, और मैं समझता हूँ।
(I do, and I understand)

अब जब हम नई शिक्षा नीति 2020 को लागू करने जा रहे हैं, तो हमें शिक्षण के तरीकों पर फिर से विचार करना चाहिए। हिंदी में तमाम कवियों को पढ़ाते हैं लेकिन खेती किसानी का कवि 'घाघ भड्डुरी' नहीं पढ़ाते।

बहुत से हिंदी के अध्यापकों ने इस कवि का नाम भी नहीं सुना होगा। घाघ कवि खेती किसानी का मौसम विज्ञानी कवि हैं। विज्ञान की शब्दावली में कहूँ तो वह एक तरह से माइक्रो और नैनो खेती तकनीकं का कवि है। घाघ को जब अपनी बात समझानी होती है तो वह अपनी पत्नी से बात करते हुए समझाता है। उदाहरण के तौर पर साठी अर्थात् धान की खेती के बारे में वह कहता है–

साठी होवे साठवें दिन, जब पानी पावे आठवें दिन।

काले फूल मिले नहिं पानी, धान मरे अधबीच जवानी।।

धान की फसल साठ दिनों में तैयार हो जाती, यदि उसे हर आठवें दिन पानी मिलता रहे और जब उसमें फूल लगते हैं यदि उस समय उसे पानी नहीं मिला, तो धान की फसल अधबीच जवानी में ही मर जाती है। फूलने के समय यदि उसे पानी नहीं मिला तो उसमें चावल नहीं बन पाता, वह बिना बीज के ही मर जाता है, बुसैला हो जाता है।

इसी तरह घाघ अपनी पत्नी से बादलों के बारे में कहता है–

शुक्रवार की बादरी रहे शनिश्चर छाय,
कहे घाघ सुन भडुरि बिन बरसे नहिं जाय।

शुक्रवार के बादल यदि शनिवार तक छाए रह जाएँ तो बारिश होगी ही। यही नहीं कौन सी फसल कब किस तरह से कितनी दूरी पर बोनी चाहिए? इस सबका विधिवत और वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण कवि घाघ करते हैं। कवि ने कहा–

गाजर, गंजी, मूरी तीनों बोवें दूरी।

गाजर, गंजी (शकरकंदी) और मूली तीनों ज़मीन के नीचे पैदा होती हैं, तीनों एक ही समय में होती हैं तीनों को एक निश्चित दूरी पर बोना चाहिए, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो इनकी संरचना, स्वाद और गुण में बदलाव आ जाएगा।

आज के समय में तमाम लोग ऑरगेनिक फसल की बात कर रहे हैं। इस ऑरगेनिक खेती के बारे में घाघ ने लिखा–

गोबर, मैला, नीम की खली, या से खेती दुनि फली।

घाघ ने बीजों के बीच कितनी दूरी होनी चाहिए यह बताया है–

घना घना सन,
मेढक की छलांग पर ज्वार,
पग पग पर बाजरा और कपास,
हिरन की छलांग पर ककड़ी और
पास–पास ऊख को बोना चाहिए।

ये तमाम विधियाँ किसी नैनो टेक्नोलॉजी से कम नहीं। काफी साल पहले मेरे एक सहयोगी जो नैनोटेक्नोलॉजी के विद्वान हैं जब अपने स्टाफ रूम में मैंने उन्हें इन कविताओं के बारे में बताया तो वह बहुत आश्चर्यचकित थे और उन्होंने मुझे कहा यह तो नैनो खेती बाड़ी का कवि है तुम इस पर काम करो। मैंने सुनी–अनसुनी कर दी। अब वे जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में नैनोटेक्नोलॉजी के प्रोफेसर हैं। अचानक उनकी बात याद आ गई। जब मैं सातवीं–आठवीं में पढ़ता था तब पता नहीं कहाँ घाघ भडुरी की कविताएँ मुझे पढ़ने को मिली। वे इतनी अच्छी लगती थीं कि याद हो गईं। कुछ कविताएँ तो याद थीं उनके आधार पर कुछ नेट पर मिल गईं। इसी आधार पर लिख रहा हूँ।

अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने भी हिंदी साहित्य के इतिहास में इनका ज़िक्र किया है। हरिऔध जी ने लिखा, "घाघ कौन थे किस जाति के थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनका नाम भी विचित्र है। उससे भी उनके विषय में कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता। वे जो हों पर अनके अनुभवी पुरुष होने में संदेह नहीं। उन्होंने जितनी बातें कही हैं वे सब नपी तुली हैं और उनमें समाज के मानसिक भावों का अनेक स्थल पर सुंदर चित्रण है। उन्होंने कुछ ऋतुओं के परिवर्तन और कृषि आदि के विषय में कुछ बातें ऐसी कही हैं जिसमें समय ज्ञान पर उनका अच्छा अधिकार पाया जाता है। कैसी हवा बहने पर पृथ्वी पर कितनी वृष्टि होने की आशा होती है, वर्षा के किन नक्षत्रों का क्या प्रभाव होता है और किस नक्षत्र में कृषि कार्य किस प्रकार करने से क्या फल होगा, इन सब बातों को उन्होंने बड़े अनुभव के साथ कहा है। भाषा उनकी ग्रामीण है और उसमें अवधी एवं बैसवाड़ा का मिश्रण पाया जाता है। कुछ रचनाएँ तो उनकी ऐसी हैं जो समाज के हृदय का दर्पण हैं।"

हिंदी में खेती किसानी का दूसरा महाकवि नहीं है। खेत में बीज, खाद, पानी की मात्रा कब कैसे और कितनी देनी है इसका सूक्ष्म अवलोकन और मौसम विज्ञान के साथ ही कृषि विज्ञान पर इतनी गहरी पकड़ होते हुए भी हमने कवि घाघ भडुरी को नज़र अंदाज किया। कारण क्या हो सकता है? कहीं घाघ भडुरी को गंवार, किसान या

छोटी जाति का समझकर तो बेदखल नहीं किया गया? जाति और व्यवसाय का हमारे समाज पर गहरा असर रहा है। ऊँचा कुल न हो तो वह समाज बड़ी से बड़ी बात को भी मान्यता नहीं देता और कुल ऊँचा हो तो सामान्य बात को भी बढ़ा–चढ़ा कर कहने की हमारे समाज की आदत रही है।

घाघ ने नीति और लौकिक व्यवहार की कविताएँ भी लिखी हैं वे बहुत ही व्यावहारिक बातों को अपनी कविता में जितनी सहज ग्राह्य बना देते हैं यह उनकी भाषा पर पकड़ का परिणाम है। वे जिस भाषा में लिखते हैं उस भाषा पर उनका ज़बर्दस्त अधिकार है। कबीर की ही तरह वे सीधे बोलते हैं और अपने श्रोता वर्ग तक सीधी पकड़ रखते हैं। लोक मानस और लोक भाषा पर उनकी गहरी पकड़ है। जब वे लोक व्यवहार की बात करते हैं तो ऐसे लगता है जैसे गाँव की चौपाल पर बैठकी कर रहे हों। उदाहरण के लिए–

नसकट खटिया दुल्हन घोड़
कहें घाघ यह विपति क ओर
बाछा बैल पतुरिया जोय
ना घर रहे न खेती होय।

अपनी सहजता और ग्राम्य जीवन से जुड़ी, खेती बाड़ी से जुड़ी और जिस समय मौसम विज्ञानी नहीं पैदा हुए थे ऐसे लोक के मर्मज्ञ सारा अनुभूत ज्ञान समाज के सामने रखते थे। उनके सामने उनका समाज था, उनके लोग थे और उसी को वे संबोधित भी करते थे। किसी अलंकार शास्त्री या रस मर्मज्ञ की तरह, किसी परंपरा या पंथ या सिद्धांत को गढ़ कर अपनी धाक समाज पर नहीं ज़माना चाहते थे, ना ही अपनी कविता के माध्यम से नाम या रोजी–रोटी कमाना चाहते थे। वे तो लोक हितैषी और अनुभव के ज्ञानकोश थे और अपने लोक का हित चाहते थे। इसलिए उन्हें न विद्वानों ने याद किया, न इतिहासकारों ने। उन्हें जिंदा रखा तो उसी लोक ने और लोक जिस कवि को याद रखता है उसे न समय भुला सकता है न इतिहास।

अब मैं अपने उसी प्रश्न पर वापस आना चाहता हूँ कि क्या साहित्य बंद कमरों में पढ़ाया जाना चाहिए?

इन बंद कमरों में हमने जो बंद कमरों का साहित्य पढ़ाया उसने हमारी क्षमता और मानवीय गुणों को सीमित किया। दरबारी साहित्य ने कौन से महामानव पैदा किए? वह लंपटता और छिछोरेपन का साहित्य हम तीन सौ साल से पढ़ रहे हैं जबकि जो लोक का निर्माण करनेवाला है उसे हमने महत्वहीन घोषित किया, उसकी उपेक्षा अवहेलना की। अब जब हम अपनी जड़ों की ओर लौट रहे हैं तो हमें अपने आदर्श के मानदंड भी बदलने होंगे। अब हमारी कसौटी वही नहीं हो सकती जो हम पर आरोपित की गई। हिंदी साहित्य ने अपने इन महान लोक निर्माता और लोक ज्ञानी विज्ञानी कवियों को जिस कारण भी छोड़ा हो, लेकिन अब उन पर बात करने का समय आ गया है। जब हम अपनी मातृभाषा में साहित्य और समाज पर चिंतन करने लगेंगे तो ये ही कवि, कलाकार, साहित्यकार हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।

– एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, ज़ाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

ओड़िशा के जनजातीय यथार्थ : साहित्य बनाम लोक

निहारिका मिश्र

'दादी बूढ़ा' उपन्यास 'कोरापुटिया परजा' जनजातियों के सरल विश्वास बनाम विश्वास भंग का मार्मिक छायाचित्र है। परजाओं का अन्य जनजाति से विवाह संबंध वर्जित है, जिसका रूढ़ विश्वास यह है कि वर्जित परंपराओं के निबाह होने पर पूरे गाँव पर विपदाओं के मेघ मंडराने लगते हैं। उपरोक्त अंधविश्वास के साथ उपन्यास का कथाप्रवाह तेजी से समुद्राभिमुखी होता है। ग्राम–मुखिया राम नायक का इकलौता लल्ला डम जनजाति के ठेंगा जानी की बेटी के साथ उधलिया (साथ भाग जाना) आसाम भाग गया है। इस घटना के बाद ही लुल्ला ग्रामवासियों की, उस रूढ़िग्रस्त विश्वास को पुष्ट करती हुई, मुर्गियों और गायों के अनजान रोग से मृत्यु का तांडव और बाघ आक्रमण के क्रम का सिलसिलेवार रूप शुरू हो जाता है। पूज्य डूमा 'दादी बूढ़ा' का अविर्भाव और लोकाराधना का अटूट रिश्ता इसी समय फलता–फूलता है और साथ ही डूमा–अंतर्ध्यान का उत्ताप भी इसी समय सारी परजा को झुलसा कर शेष हो जाता है। अंत में बच जाते हैं तो केवल लुल्ला गाँव के भग्नावशेष जो कभी भविष्य को साक्षी देंगे इनके ताम्र इतिहास का।

विशाल भारत की अवधारणा जाति, धर्म, संस्कृति, परंपरा की विविधताओं में परिबद्ध है। उपर्युक्त विविधतापूर्ण संकल्पनाओं की संश्लिष्टता तथा अखंडता भारत में सामासिक समन्वय का केंद्र है। सामासिक भावना भारत के राष्ट्रीय महत्व को अक्षुण्ण रखती है। भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्य समाज की आंतरिक आस्था है। संस्कृति एवं सभ्यता का आपसी संबंध शरीर व आत्मा का है। सभ्यता मानव की बाह्य भौतिक विकासयात्रा है तो संस्कृति उसकी चिंतन परंपरा तथा व्यक्तित्व की कलात्मक सर्जनात्मकता। संस्कृति किसी मनुष्य को विरासत में मिली वस्तु नहीं हो सकती, बल्कि प्रत्येक मनुष्य और पीढ़ी को अपने अनुभव और समझ के साथ संस्कृति का अर्जन करना पड़ता है। परंपरा की ऐतिहासिक यात्रा से प्राप्त सत्यम–शिवम–सुंदरम की अमूल्य निधि है संस्कृति।

संस्कृति पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए हरदेव बाहरी लिखते हैं– "संस्कृति सामाजिक परंपरा से प्राप्त संस्कार और व्यवहार है। संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत और समृद्ध बनाती है।"

प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. देवराज संस्कृति को सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए लिखते हैं– "संस्कृति का अर्थ चिंतन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ हैं जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनाने वाली हैं। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिंतन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शो तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा देंगे।" वसुधैव कुटुम्बकम का विचार, अहिंसा, दया, करुणा, दान, परोपकार आदि भारतीय सांस्कृतिक मूल्य हैं जो पूरे विश्व में भारतीय सभ्यता को समृद्ध करते हैं। भारत ने इन्हीं नैतिक मूल्यों को

पूरे विश्व दरबार में साझा किया और विश्वगुरु के रूप में पूजित है।

भाषा संस्कृति मापन का औजार है। संस्कृति के संरक्षण का भार सभ्यता की भाषा पर होता है। पुराकाल से भारतीय संस्कृति 'आस्तिकता', 'धार्मिकता', 'मानवता' तथा 'उद्देश्य' नाम के चार स्तंभों पर खड़ी है, हर पीढ़ी जिसे नए उन्माद के साथ ग्रहण करती है। संस्कृति और भाषा एक दूसरे पर निर्भर है। वैश्विक स्तर पर संस्कृति के अनुशीलन से यह तथ्य सामने आता है कि या तो वह पुरावशेषों में संरक्षित होती है या तो भाषा पर संरक्षित संस्कृति काल की मार को भी झेल जाती है। जबकि पुरावशेषों के ध्वंस के साथ संस्कृति भी काल के गर्भ में समा जाती है।

ओड़िशा की जनसंख्या में करीबन 24% आदिवासी समुदाय है। भारतीय आदिवासियों की प्रजातियों में से 62 प्रजाति के आदिवासी ओड़िशा में निवास करते हैं। प्राचीन काल से आदिवासी सभ्यताएँ भारतीय परंपरा की विकासयात्रा की सहयात्री रही हैं। ओड़िशा की जनजातीय संस्कृति–परंपरा उत्कलिय ऐतिहासिक विजय ध्वज में अशोक चक्र की भूमिका निभाती हैं। जनजातीय पारंपरिक वेश–भूषा से सुसज्जित आदिवासी अपने लोकगीतों, लोकनृत्यों, चित्रकला, लोकरंग की संजीवनी से आज भी ओड़िशा प्रदेश के मयूरभंज, सुंदरगढ़, केउँझर, फुलवाणी, बालेश्वर, जाजपुर, संबलपुर, बलांगीर आदि जिलों में प्राण फूँक रहे हैं। प्राचीन युग से ओड़िशा प्रदेश 'सौंउरा', 'बोंडा', 'संथाल', 'गोंड, 'भुयां', 'ओरांग', 'कोया', 'कोंध', 'परजा' आदि आदिवासी समुदायों के विश्वास–अंधविश्वास की समन्वित–संस्कृति का संगमतीर्थ रहा है।

घने जंगलों के बीच कोलाहल मचाते सुंदर जलप्रपातों तथा गहरी घाटियों के कंधों पर प्रकृति के वरदानस्वरूप विराजमान है ओड़िशा प्रदेश में स्थित कोरापुर जिला। जिसका अनुपम सौंदर्य सदैव से सैलानियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सक्षम रहा है। प्राकृतिक हरियाली के साथ आदिवासी जनजीवन के लोकरंग की छटाएँ कोरापुट पर्यटन में मानो मणि–कंचन योग पैदा कर देती हैं। आठ से भी अधिक प्रमुख आदिम जनजातियाँ कोरापुट जिले को समृद्ध करती हैं। सर्वाधिक जनसांख्यिकी 'परजा' और 'कोंध' जनजाति की है।

'ओड़िशा में आदिवासी संस्कृति' की चर्चा यहाँ गोपीनाथ मोहंती द्वारा रचित ओड़िया भाषी नृतात्विक उपन्यास 'दादी बूढ़ा' के विशेष संदर्भ में की जा रही है। परजायों की जनजातीय भाषा में 'दादी' शब्द और 'कोंधों की 'कुई' भाषा में 'बूढा' शब्द का संबंध उनके पितृपुरुष या पूर्वजों से होता है। यही पूर्वज उनके जनजीवन की रक्षा व पालन–पोषण क्रमशः देवता या डूमा बनकर सदैव करते रहते हैं।

2011 की जनगणनानुसार ओड़िशा में 'परजा' आदिवासियों की जनसंख्या 374.628 तथा साक्षरता दर 34.92 प्रतिशत थी। 'परजा' शब्द 'प्रजा' शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ 'राजा के नागरिक' होता है। 'परजा' जनजाति मुख्यतः आखेटक प्रवृत्ति की होती है। जंगली पशुओं जैसे बाघ, शेर, जंगली सूअर आदि का शिकार इनकी जनजाति में पुरुषों के शौर्यवान होने का प्रतीकात्मक रूप है। इनका समाज भी पुरुषकेंद्रित समाज है। शिकार के अतिरिक्त 'परजा' आदिवासी कृषि क्षेत्र से व्यावसायिक रूप से जुड़े होते हैं। पुरुषों का जाँघो तक ढकी धोती और स्त्रियों का अति साधारण सी साड़ी प्रमुख परिधान है।

भारत उत्सव–प्रधान देश है। कदाचित आदिवासी समाज ही इन उत्सवों का प्रेरणा स्रोत रहा है। परजा समाज के उत्सव–पर्वो में प्रमुख हैं– 'आषाढ़ परब', नुआखिआ', 'दियाली परब', 'पुष परब', 'चैत परब' आदि। परजा का उत्सव प्रधान समाज लोकनृत्य–लोकगीत–लोकवाद्य के अद्भुत लोक–रंगों से प्राणवान है। 'ढेमसा', कादुमरा', डुंगडूंगा' आदि प्रमुख पारंपरिक लोकनृत्य हैं। 'ढोल', 'टमका' 'डुंग डुंगी', 'महुरी' आदि प्रमुख वाद्य–यंत्र हैं।

विवाहप्रथा तथा जीवनसाथी चयन की बहुत ही अनोखी परांपरा है 'परजा' समाज में। गाँव के अंतिम हिस्से में दो अलग–अलग किंतु आमने–सामने दो छप्पर की कुटिया बनवाई जाती हैं। एक छप्पर परजा युवकों के समूह का होता है जिसे 'धांगड़

बसा' कहा जाता हैं, तो दूसरा छप्पर युवतियों का होता है जिसे 'धांगड़ी बसा' कहते हैं। शाम ढलते ही 'धांगड़ा' और 'धांगड़ियों' का समूह उस 'बसा' में रात बिताने चले जाते हैं। रातभर नृत्य–गीत चलता है तथा युवक–युवतियों में अंतरंगता, जान–पहचान बढ़ती है। इस प्रकार वे अपने पसंदानुसार जीवनसाथी का चयन करते हैं। उक्त परंपरा परजा समाज की प्रमुख सामाजिक–सांस्कृतिक नियम–प्रथा है। नियमित पारंपरिक अभ्यास ही संस्कृति निर्माण का सेतु है।

प्रकृति के निर्माणकाल से ही आदिवासियों की भिन्न गोष्ठियाँ आपस में ताल–मेल बिठाकर सौहार्दपूर्ण तरीके से साथ रहती आ रही हैं। ओड़िशा प्रदेश में जनसांख्यिकी आधार पर 'कंध' जनजाति अव्वल है। कैप्टेन मैकफारसन 'कंध' का शाब्दिक अर्थ 'पर्वतारोहण' बताते हैं। कंध आदिवासियों की अपनी स्वयं की भाषा होती है, जिसे वे 'कुई भाषा' और स्वयं को भाषिक आधार पर 'कुई लोग' कहते हैं। कंध जनजातियों की तीन उपजातियाँ अनुक्रमानुसार विभाजित पाई जाती हैं वे हैं, 'देशिया कंध', कुटिया कंध और 'डोंगरिया कंध'। कोरापुट जिला 'डोंगरिया कंधों' का आवास क्षेत्र है।

'कंध' जनजाति अति–धार्मिक के साथ ही धार्मिक कट्टर भी होती है। इनके समाज में समगोत्रीय विवाह वर्जित है। एक गाँव की युवती का विवाह उसी गाँव में होना अंसभव है। इनके समाज में भी दहेज प्रथा का प्रचलन है, परंतु दहेज वर–पक्ष द्वारा कन्या–पक्ष को देने का रिवाज है। 'सेमि–जात्रा' 'चाउल–धुआ–जात्रा', 'महुआ–जात्रा' आदि प्रमुख त्योहार कंध जनजातियों द्वारा बड़े धूम–धाम से मनाए जाते हैं। कंध आदिवासी के सभी त्योहार निर्मम पशु–बली केंद्रित होते हैं। कंध मान्यता/विश्वास है पशु–बली से ही देवता को तृप्त कर मनौती पूरी होती है। 'परजा' आदिवासी के समान ही कंध' समाज भी पितृसत्तात्मक होता है।

प्राक–स्वाधीनता युग के ओड़िया साहित्य में आधुनिकता का बीज गोपीनाथ के लेखन से अंकुरित हुआ। ओड़िया साहित्य की विश्व–स्तरीय लोक–प्रियता का अभिषेक इनके सृजन–धर्मिता से ही फलीभूत हुआ था। हिंदी साहित्य जगत में 'कलम का मजदूर' अगर प्रेमचंद हैं तो ओड़िया साहित्य के प्रेमचंद गोपीनाथ मोहंती हैं। गोपीनाथ मोहंती की कलम मरणोपरांत आदिवासी–स्नेह की मजदूरी करती रही। 'दादी बूढा', 'परजा', 'हरिजन', अमृत र संतान', 'दिग–बाहुड़ी', 'जानकम्मा', 'लय–विलय', 'दाना–पाणी', 'अपहंच', 'अनाम' आदि उपन्यास इन्हीं नामों की जुबान है जो चीख–चीख कर अपने अस्तित्व का रहस्योद्घाटन कर रही है।

संस्कृति त्याग से प्रौढ़ होती है। विश्वास के दलन, कुटन से लहलहाती है। इसका साक्ष्य पाश्चात्य विद्वान का यह कथन भी प्रस्तुत करता है कि– "प्रायः संस्कृति का दस्तावेज बर्बरता के भी दस्तावेज होते हैं।" 'दादीबूढ़ा' उपन्यास का हृदय–विदारक अंत इसी विश्वास और विश्वास–भंग की बर्बरता का प्रतिबिंब है। आदिवासी समाज सदैव से मुख्य धारा समाज की लोलुप दृष्टि में देश की प्रगति में बाधक रहा है। अपने प्राकृतिक आवास स्थान से विस्थापित और प्रताड़ित ये जनजातियाँ आज अपनी अस्मिता के संघर्ष से जूझ रही हैं। 'भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा' पुस्तक में आलोचक मैनेजर पांडेय के इस कथन का उल्लेख भी इस संदर्भ में अति आवश्यक बन पड़ता है कि– "संस्कृति सिर्फ समरसता, समन्वय और सामंजस्य की संस्कृति मात्र नहीं है बल्कि उसके नाम पर समाज में हुए दमन, भेदभाव, अधीनता और अन्याय के साथ–साथ प्रतिरोध की परंपरा भी संस्कृति है। यदि इन तीनों आयामों में से किसी एक को छोड़कर व्यक्ति आगे बढ़ता है या संस्कृति पर बात करता है तो वह बात अधूरी समझी जाएगी।" गोपीनाथ मोहंती इन तीनों आयामों को बड़े ही ध्यानपूर्वक 'दादीबूढ़ा' उपन्यास में निर्वाह करते देखे जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दादीबूढ़ा गोपीनाथ मोहंती, मनमोहन प्रेस, कटक, 1944

2. वर्मा, विमलेशकांति (संपादक), भाषा साहित्य और संस्कृति, मालती ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2007

3. The paraja: A Socio-Cultural Study, Dr.Devashis Patra, Odisha Review Journal, Odisha State Portal (Odisha.gov. in)

4. Tribes-http://koraput.nic.in

5. State's Popular Tribes of Odisha-http://www.tourmyindia.com

6. Lists of Scheduled Tribes in Odisha-http://en.m.wikipedia.org

7. अतुल्य भारत–कोरापुट – http://www.incredibleindia.org

8. The Kondh Tribe: Their Culture and Education-http://shodhganga.inflibnet.ac.in

9. मिश्र, राजकिशोर, गोपीनाथङ्क उपन्यास र मरम कथा, विद्यापुरी, कटक, 2007

10. डॉ. स्वाई, प्रसन्नकुमार (संपादक), अमृत स्वाक्षर, विद्यापुरी, कटक, 2007

11. शंभुनाथ, रामविलास शर्मा, साहित्य अकादमी, 2013

12. मिश्र, नरसिंह डंगरिया कंधङ्क सामाजिक जीवन, कोणार्क आदिवासी भाषा, साहित्य ओ संस्कृति विशेषांक, ओड़िशा साहित्य अकादमी, 121, संख्या मई–जुलाई, 2011, पृष्ठ संख्या–1–7

13. पशायत, चित्रसेन, ओड़िशार आदिवासी समाजरे देवीपुजा, कोणार्क–121, ओड़िशा साहित्य अकादमी, मई–जुलाई, 2001, पृष्ठ संख्या–23–38

14. प्रो. डॉ. मोहंती, कृष्ण कुमार, प्रो. डॉ. बेहुरा, नव किशोर ओड़िशार जनजाति समाज, संस्कृति, भाषा ओ उन्नयन, ओड़िशा राज्य पाठ्य पुस्तक ओ प्रकाशन संस्था, पुस्तक भवन, भुवनेश्वर, 2008

– हिंदी अध्यापिका, वेदव्यास महाविद्यालय, राऊरकेला, ओड़िशा

❑❑❑

हिंदी जाति की अवधारणा और डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. प्रफुल्ल कुमार

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में डॉ. रामविलास शर्मा का नाम महज आलोचक के रूप में ही नहीं बल्कि सभ्यता, भाषा और संस्कृति समीक्षक के रूप में आदर से लिया जाता है। उनके लेखन एवं मान्यताओं को ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों–साहित्य, भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि में बाँटकर समझना उनके लेखन को कमतर करके आँकना होगा, क्योंकि उन्होंने अपनी आलोचना में साहित्य को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने का कार्य किया है। रामविलास शर्मा से पूर्व विद्वानों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विवेचन प्रायः यूरोपीय मानकों के अनुरूप किया। यूरोपीय इतिहास में जिस प्रकार मध्यकाल को अंधकार युग कहा गया, उसे भारत के संदर्भ में भी चस्पाँ कर दिया गया और ऐसा करने में मार्क्सवादी आलोचकों ने भी सहयोग ही दिया था। जबकि रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना के रूढ़ सिद्धांतों का खंडन कर उसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में अवलोकित करने के साथ–साथ परंपरा को मूल्यांकित करने का महती कार्य किया। उन्होंने साहित्य और समाज के अंतर्संबंधों को देखने के तरीके में द्वंद्वात्मक पद्धति का उपयोग तो किया ही, साथ ही उसके ऐतिहासिक स्वरूप, मान्यताओं और लोक की भाव–भूमि का भी समग्र मूल्यांकन किया। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा भी कि– "मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य हिंदी भाषी जनता को ऊपर उठाना है, उसे जागृत करना है, उसके ज्ञान को समृद्ध करना है इसी के साथ स्वयं को शिक्षित करना है..... मेरा सारा प्रयत्न इस दिशा में है, न तो जाति डूबे, न उसके साथ सारा देश डूबे। कला कभी भी साहित्य के ज्ञान कांड का स्थान नहीं ले सकती। मेरा कार्य जैसा भी है, इस ज्ञान कांड से जुड़ा है। दो समर्पित साहित्यकार, दो समर्पित संगीतकार, दो निष्ठावान कलाकार समाज में ऐसा परिवर्तन कर सकते हैं, जैसा सौ राजनीतिज्ञ मिलकर भी नहीं कर सकते। इसलिए अपनी विरासत से प्रेरणा लेनी चाहिए कि निष्ठावान साहित्यकार या कलाकार की साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती।"

(मेरे साक्षात्कार–पृ. 254)

डॉ. रामविलास शर्मा की इसी पक्षधरता और प्रतिबद्धता ने उन्हें भाषा, साहित्य, समाज, संस्कृति, मार्क्सवाद, इतिहास आदि पर समग्रता से विचार करने की प्रेरणा दी और इसी क्रम में उन्होंने 'हिंदी जाति' की अवधारणा पर भी गंभीरता से विचार किया है। 'हिंदी जाति' को समझने से पूर्व हमारे लिए 'जाति' की अवधारणा को समझना जरूरी हो जाता है। 'जाति' शब्द से जाति–प्रथा या कास्ट सिस्टम का बोध नहीं होता बल्कि यह अंग्रेजी के 'एथनिक' शब्द का पर्याय है। डॉ. शर्मा राष्ट्र, नेशन और जाति इन तीनों शब्दों में बारीक भेद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– 'राष्ट्र' शब्द से भूमि का बोध होता है जबकि 'नेशन' शब्द से केवल किसी भूखंड के निवासियों का बोध होता

है। 'परंपरा का मूल्यांकन' में उन्होंने लिखा है कि– "जातीयता की सबसे बड़ी पहचान भाषा से होती है, जैसे हिंदी, बांग्ला, मराठी, तमिल आदि भाषाएँ बोलनेवाले समुदायों को जाति कहते हैं। प्रत्येक जाति आधुनिक पूँजीवादी आर्थिक संबंधों के विकास का परिणाम है।"[1] उन्होंने जातीय निर्माण के लिए चार प्रमुख तत्वों 1. सामान्य भाषा, 2. सामान्य आर्थिक जीवन, 3. सामान्य प्रदेश एवं 4. सामान्य संस्कृति को आवश्यक माना है।

'जाति' एवं 'जातीयता, की अवधारणा पर डॉ. रामविलास शर्मा से पूर्व भी विचार किए गए हैं। 1902 ई. की सरस्वती पत्रिका में श्री कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'महाराष्ट्री जाति का अभ्युदय' नाम का एक लेख लिखा। 1930 ई. में डॉ. धीरेंद्र वर्मा ने 'हिंदी राष्ट्र और सूबा हिंदुस्तान' नामक पुस्तक लिखी जिसमें हिंदी भाषी प्रदेश का सूबा निर्धारण किया गया। इसी क्रम में डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने 'आर्यभाषा और हिंदी' पुस्तक में हिंदी भाषी जनता का उल्लेख किया है। लेकिन हिंदी जाति पर समग्र रूप से विचार और विश्लेषण करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को जाता है।

डॉ. शर्मा 'भाषा और समाज' पुस्तक में 'हिंदी जाति' के उद्‌भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि– "जातीय भाषाएँ किसी आर्थिक व्यवस्था का सांस्कृतिक प्रतिबिंब नहीं है। उसके भाषा तत्वों का निर्माण आर्थिक आधारों पर नहीं होता। बोलियों या किन्हीं लघुजातियों की भाषाओं के रूप में उनका अस्तित्व पहले भी रहता है, किंतु महजातियों की भाषा के रूप में उनका अस्तित्व पहले नहीं होता। उदाहरण के लिए दिल्ली या आगरे की जो बोली हिंदी–उर्दू के रूप में विकसित हुई, वह पहले एक छोटे क्षेत्र में सीमित थी। जब वह अवध, बुंदेलखंड, भोजपुरी प्रदेशों की सम्मिलित भाषा बनी, तब उसका क्षेत्र व्यापक हो गया, वह हमारी जातीय भाषा बनी। इस प्रकार जातीय भाषा का विकास पूँजीवादी संबंधों के कायम हुए बिना नहीं होता।"[2]

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी जाति का उद्‌भव 15वीं–16वीं सदी के लोकजागरण से मानते हैं, तथा उस समय की आर्थिक व्यवस्था को सौदागरी पूँजीवाद का नाम देते हैं। यह समय लोक बोलियों के उदय होने का समय है। इसी समय ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी, खड़ी बोली, बुंदेलखंडी आदि बोलियों का उद्‌भव होता है। हिंदी जातीयता के निर्माण में इस समय के रचित साहित्य का एक बड़ा जन–सरोकार यह है कि, ये भले ही क्षेत्र विशेष की बोलियों में लिखे जाते रहे हों, लेकिन ये अन्य क्षेत्रों में भी पढ़े और समझे जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रज, अवधी, मैथिली जैसे साहित्य समृद्‌ध भाषाओं के बजाय खड़ी बोली किस प्रकार इन जनपदीय भाषाओं को अपने में समाहित कर लेती है? डॉ. रामविलास शर्मा इसके मूल में प्रशासन और विनिमयन जैसे प्रमुख कारकों की खोज करते हैं और सल्तनत काल से ही आगरा और दिल्ली के प्रशासनिक और विनिमय–केंद्रों के रूप में महत्व को रेखांकित करते हुए 'भाषा और समाज' में लिखते हैं कि– "हिंदी भाषी प्रदेश में दिल्ली व्यापार और राजनीतिक जीवन का केंद्र रहा। वह खड़ी बोली बोलने वाले प्रदेश का केंद्रीय नगर था..... अवधी और भोजपुरी के क्षेत्रों में भी अनेक व्यापार केंद्र कायम हुए थे, किंतु वे दिल्ली और आगरे के समान शक्तिशाली न थे, बल्कि उनके अधीन थे। इसके सिवा तुर्कों और मुगलों के शासनकाल में दिल्ली उत्तर भारत में राज्य–सत्ता का बहुत बड़ा केंद्र थी। इस कारण भोजपुरी या अवधी जातीय भाषा के रूप में विकसित न हुई; जातीय भाषा बनी दिल्ली केंद्र वाली खड़ी बोली।"[3]

इसी संदर्भ में प्रो. रमण प्रसाद सिन्हा ने भी लिखा है कि– "मध्यकालीन भारत में दिल्ली दरबार की स्थिति केंद्रीय थी। दिल्ली दरबार महज राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र–स्थल नहीं था बल्कि भाषा, साहित्य, स्थापत्य, चित्र–कला, संगीत से लेकर फैशन तक यानी कुल जमा जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसके तमाम प्रतिमान यहीं तय किए जाते थे।"[4]

इस कथन के आलोक में 'हिंदी' का जातीय भाषा के रूप में विकसित होना स्वाभाविक जान

पड़ता है। चूँकि मध्यकालीन भारत में दिल्ली की अपनी केंद्रीय भूमिका थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी जाति के सर्वसमावेशी और जनपक्षधरता वाले चरित्र की 'लोकजागरण' काल में ही पहचान की एवं इसका विकास उन्होंने 'हिंदी–नवजागरण' काल में देखा था। 1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेजों ने हिंदी जाति की एकता को देखा था और वे जानते थे की इस एकता को खंडित किए बिना वे इस क्षेत्र पर सांस्कृतिक आधिपत्य नहीं जमा सकते। तभी तो इसे खंडित करने के लिए अंग्रेजों ने साम्राज्यवादी भाषा–भेदनीति का निर्धारण भी किया। डॉ. गिल्क्राइस्ट और डॉ. ग्रियर्सन द्वारा 'हिंदी' को हिंदुओं और 'उर्दू' को मुसलमानों की भाषा के रूप में प्रचारित किया गया और इस प्रचार को फैलाने में यहाँ के तथाकथित बुद्धिजीवियों ने भी सहायता ही पहुँचाई। 'हिंदी और उर्दू' को संप्रदाय विशेष की भाषा बनाने में वे सफल भी रहे। इस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज' पुस्तक में विस्तार से चर्चा करते हुए लिखा है कि "..... लेकिन अंग्रेजों ने इन संभावनाओं को खत्म कर दिया। उन्होंने हिंदी–उर्दू की दो शैलियों को दो जातियों की भाषा का रूप दे दिया और भाषा को जातीय उत्पीड़न का साधन बनाया। इसलिए यह बात मुश्किल से कुछ लोगों की समझ में आती है कि अंग्रेजी राज से पहले 'हिंदुस्तान' के लिए हिंदू और मुसलमान एक जाति के थे और आज भी एक ही जाति के हैं। धर्म के आधार पर न कहीं भाषाओं में भेद उत्पन्न हुआ है, न कहीं जातियाँ बनी हैं।"[5] इस प्रकार के प्रयासों से हिंदी की जातीयता गहरे अर्थों में खंडित हुई। डॉ. शर्मा ने इस भेदनीति के भ्रामक तत्वों का अपने तर्कों के जरिए खंडन तो किया ही साथ ही इसके एका के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं, लेकिन लिपि के सवाल को लेकर यह मसला गंभीर हो जाता है। आज के समय में भी इस सवाल को सुलझा लेना हमारे सामने एक बड़ी चुनौती है।

अब हमारे सामने एक बड़ा सवाल आता है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने 'हिंदी जाति' की अवधारणा को क्यों प्रस्तुत किया? डॉ. शर्मा ने अपने अध्ययनों से पाया कि हिंदी प्रदेश जैसे साहित्यिक और सांस्कृतिक रूप से संपन्न क्षेत्र का ऐतिहासिक मूल्यांकन अब तक यूरोपीय मानकों के अनुरूप किया गया और इसकी जातीयता को छिन्न–भिन्न करने की कोशिश की गई, जिसमें कुछ भारतीय विद्वान भी शामिल हुए। 'काऊ–बेल्ट' कहे जाने वाले इस क्षेत्र की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को पुनर्स्थापित करने का कार्य डॉ. शर्मा ने 'हिंदी जाति' की अवधारणा के माध्यम से किया। उन्होंने भारत की अन्य जातियों के बरक्स 'हिंदी जाति' समुदाय में भी आत्मगौरव का भाव जगाने का कार्य किया तथा हिंदी–उर्दू विवाद के कारण फैले विवाद को खत्म करने के औज़ार के रूप में भी 'हिंदी जाति' की प्रासंगिकता बताई। वास्तव में 'हिंदी जाति' की अवधारणा ने हिंदी भाषी शिक्षित मध्यवर्ग की सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने का कार्य किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि– "भाषा ही किसी जाति की सभ्यता को सबसे अलग झलकाती है, यही उसके हृदय के भीतरी कलपुर्ज़ों का पता देती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है।"[6]

औपनिवेशिक शक्तियों ने इसी औज़ार का इस्तेमाल शोषण–तंत्र के स्थापना के लिए किया जिसे पहचानने में हमें काफी समय लगा। डॉ. शर्मा इस अवधारणा के माध्यम से हिंदी के जातीय तत्वों और उसके सरोकारों को पहचान कर हिंदी के जातीय समाज की सांस्कृतिक क्षतिपूर्ति करने के साथ–साथ औपनिवेशिक जड़ता को भी तोड़ने का कार्य करते हैं।

अनेक आलोचकों जैसे राहुल सांकृत्यायन और शिवदान सिंह चौहान आदि ने डॉ. रामविलास शर्मा की इस अवधारणा पर बोलियों के दमन का आरोप लगाया है। राहुल जी जहाँ जनपदीय बोलियों के आधार पर राज्य स्थापित करने की बात करते हैं वही शिवदान सिंह चौहान मातृभाषाओं का सवाल उठाते हैं। उनकी चिंता जायज है, लेकिन देखना यह है कि क्या डॉ. शर्मा अपने लेखन में कहीं भी बोलियों के साहित्यिक अवदान और अस्तित्व पर

प्रश्न चिह्न लगाते हैं क्या? इसका उत्तर नहीं है। वे जिस प्रकार राष्ट्रीयता के लिए जातीयता का महत्व स्वीकार करते हैं उसी प्रकार जातीयता के लिए लघु जातियों/जनपदीय भाषाओं का महत्व भी स्वीकार करते हैं। तभी तो वे लिखते हैं– "जातीयता और राष्ट्रीयता में कोई अंतर्विरोध नहीं है। जैसे राष्ट्रीयता के बिना अंतरराष्ट्रीयता संभव नहीं है वैसे ही जातीयता के बिना राष्ट्रीयता का अस्तित्व संभव नहीं है। फिर चाहे राष्ट्र एकजातीय हो या बहुजातीय।"[7] आज जब सभी भारतीय भाषाओं के अस्तित्व पर संकट है तो ऐसे समय में यह स्थिति और भी जटिल हो जाती है। क्योंकि प्रशासनिक और विनियमन की संस्थाओं पर भारतीय भाषाओं की बजाय अंग्रेजी भाषा का प्रभाव बढ़ा है। ऐसे में 'जातीय भाषा' की अवधारणा का महत्व स्वयंसिद्ध है।

'हिंदी जाति' को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा का चिंतन अत्यंत गंभीर, व्यापक एवं विषद है। उनकी इस अवधारणा के केंद्र में हिंदी समाज ही नहीं था, बल्कि संपूर्ण भारतीय समाज, भारतीय भाषाएँ, साहित्य और संस्कृति उसमें समाहित थी। 'हिंदी जाति की अवधारणा' के माध्यम से भारत के विशाल भू–भाग, जिसकी महत्ता एवं सांस्कृतिक उदात्तता (प्राचीन काल से ही चली आ रही थी) का उन्होंने क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विवेचन किया। उनके इस विवेचन और विश्लेषण पर पुनरुत्थानवादी और हिंदुवादी नजरिया होने का आरोप भी लगाया गया। लेकिन उन्हें यह देखना चाहिए कि डॉ. शर्मा जिस 'हिंदी जाति' का उद्भव 19वीं सदी के नवजागरण के दौरान मानते हैं, उसका आधार वे भक्ति काल (15वीं–16वीं सदी) के लोकजागरण को मानते हैं। 'सौदागरी पूँजीवाद' के पश्चात् आया 'व्यापारिक पूँजीवाद' भी इसके निर्माण में अहम भूमिका निभाता है। उनकी यह अवधारणा और उनका लेखन 'हिंदी जाति' के प्रति प्रेम और गहरे सांस्कृतिक दायित्व बोध का सूचक है। उन्होंने इस अवधारणा के आलोक में हिंदी प्रदेश, उसकी प्रशासनिक इकाई, जनपदीय भाषाओं, साहित्य आदि पर समग्र रूप से विचार किया है। लेकिन आज जब अस्मिताओं के तलाश का समय है, तब उनकी अवधारणा पर प्रश्नचिह्न भी लगने लगते हैं, वहीं दूसरी तरफ लोकभाषा एवं संस्कृति हारक 'विश्वग्राम' के समय में इस अवधारणा की जरूरत भी शिद्दत से महसूस की जा रही है, जिससे डॉ. शर्मा का संस्कृति समीक्षक रूप भी हमारे सामने आता है। डॉ. शर्मा का यह विवेचन हमें एक ओर जहाँ हिंदी प्रदेश की एकता और इसके सामाजिक–आर्थिक संबंधों की पहचान कराता है, वहीं दूसरी ओर भाषाई तत्वों के आधार पर चिंतन करने का भी नया आधार देता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. परंपरा का मूल्यांकन; रामविलास शर्मा; पृ. 16
2. भाषा और समाज; रामविलास शर्मा; पृ. 96
3. भाषा और समाज; रामविलास शर्मा; पृ. 272–73
4. बहुवचन–पत्रिका (अंक–23); संपादक राजेंद्र कुमार; पृ. 41
5. भाषा और समाज; रामविलास शर्मा; पृ. 310
6. चिंतामणि; रामचंद्र शुक्ल; पृ. 73
7. भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ; रामविलास शर्मा; पृ. 39

– सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, पीजी सेंटर, सहरसा, बिहार

❑❑❑

सुमित्रानंदन पंत का प्रकृति प्रेम

डॉ. रवि शर्मा 'मधुप'

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

(मोह, जनवरी 1918)

छायावाद के चार स्तंभों में से एक, प्रकृति के चतुर चितेरे कविवर सुमित्रानंदन पंत द्वारा जनवरी, 1918 में रचित 'मोह' कविता की ये प्रारंभिक पंक्तियाँ युवावस्था के प्रवेश द्वार पर खड़े कवि के प्रकृति प्रेम की उत्कट परिचायक हैं। प्रकृति के प्रांगण – अल्मोड़ा के निकट कौसानी में पंत जी के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात हुआ। पंत जी के शब्दों में, "कौसानी तो सौंदर्य का स्वर्ग है।" (मेरी सर्वप्रथम रचना, 'हार' की भूमिका से)

पंत ग्रंथावली के सात खंडों में समाहित पंत जी की रचनाओं में वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना, युगपथ, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, कला और बूढ़ा चाँद, लोकायतन, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पाँच कहानियाँ, शंख ध्वनि आदि विशेष चर्चित रही हैं।

कवि सुमित्रानंदन पंत अपने प्रकृति प्रेम के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रकृति की गोद में पलने के कारण प्रकृति की ओर आपका आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। प्रकृति की विभिन्न छटाओं को घंटों अपलक निहारने के कारण ही पंत जी प्रकृति के विभिन्न अंगों और उसकी विविध गतिविधियों का मर्मस्पर्शी चित्रण करने में सफल हो पाए। कवि हृदय में अनेकानेक कुतूहलपूर्ण जिज्ञासाएँ जन्म लेती रहती थीं और वे पूछ लेते –

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ
वह अपनी वयबाली में....?
सजा हृदय की थाली में –

(वसंतश्री, मार्च, 1918)

पंत जी के काव्य में प्रकृति कभी आलंबन रूप में दिखाई देती है, तो कभी उद्दीपन रूप में; कहीं प्रकृति का कोमल रूप है, तो कहीं कठोर रूप; संवेदनापूर्ण दृष्टि तथा कल्पनापूर्ण चित्रों से युक्त प्रकृति प्रेम तथा प्रकृति का मानवीकरण भी है और प्रकृति के माध्यम से परोक्ष का चित्रण, जो प्रकृतिपरक रहस्यवाद कहलाया, भी पंत जी की कविताओं में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

वसंत को ऋतुराज कहा जाता है। प्रायः सभी प्रकृति–प्रेमी कवियों ने वसंत के चित्ताकर्षक दृश्य दिखाए हैं। पंत जी द्वारा वसंत का एक चित्र प्रस्तुत है –

वह मधुर मधुमास था, जब गंध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप दल;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस–से।
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से।

(ग्रंथि, जनवरी, 1920)

कवि का प्रकृति से इतना गहरा तादात्म्य बन गया है कि वह अपने समस्त सुख–दुख भी प्रकृतिमय पाता है–

गर्व–सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न–सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र–सा,
वात–सा, भूकंप–सा, उत्पात–सा!

(ग्रंथि, जनवरी, 1920)

'पल्लव' पंत जी का सर्वाधिक चर्चित काव्य संग्रह है। सन् 1926 में प्रकाशित इस काव्य संग्रह में सन् 1919 से 1925 तक की, प्रत्येक वर्ष की दो–दो, तीन–तीन कृतियाँ रखी गई हैं, जिनमें से अधिकांश 'सरस्वती' तथा 'श्री शारदा' में समय–समय पर प्रकाशित भी हो चुकी थीं। पुस्तक के प्रारंभ में दिए विज्ञापन में पंत जी ने लिखा – "मैं प्रसन्नापूर्वक अपने इन 'पल्लवों' को हिंदी के कर–पल्लवों में अर्पण करता हूँ। इन्हें मैं 'पत्रं पुष्पम्' नहीं कह सकता, ये केवल पल्लव हैं –

न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस–राग पराग।

(विज्ञापन 'पल्लव')

इस पुस्तक के आरंभ में पंत जी ने एक विस्तृत भूमिका भी दी, जिसमें काव्य के बाह्य रूप – काव्य भाषा, छंद, अलंकार, राग, संगीत, तुक आदि पर गंभीर चर्चा की गई है, जिस प्रकार पश्चिम में वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज द्वारा तैयार की गई काव्य पुस्तक – 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका को वहाँ 'स्वच्छंदतावाद का घोषणापत्र' कहा जाता है, उसी प्रकार 'पल्लव' की भूमिका को भी 'छायावाद का घोषणापत्र' कहा जा सकता है।

'पल्लव' अर्थात् पत्ते शीर्षक प्रथम कविता के प्रारंभ में पंत जी कहते हैं–

अरे, ये पल्लव बाल।
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल
नहीं पूरी तरु डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल।।

(पल्लव, नंवबर, 1924)

ऋतुराज वसंत के अतिरिक्त ऋतुओं की रानी वर्षा (पावस) ऋतु भी प्रायः सभी कवियों को बहुत प्रिय रही है। भारत में बारह माह में छह ऋतुएँ दो–दो माह के लिए आती हैं। श्रवण और भाद्रपद नक्षत्रों के नाम पर रखे सावन–भादों नामक वर्षा के दो महीनों का वर्णन पंत जी ने सिंतबर, 1921 में रचित 'उच्छवास' शीर्षक कविता में इस प्रकार किया है–

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल–पल परिवर्तित प्रकृति वेश!
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार–बार
नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण–सा फैला है विशाल!!

वर्षा ऋतु में बादल केवल जल नहीं बरसाते। पंत जी की दृष्टि में ये बादल वस्तुतः जीवन के ही प्रतिरूप हैं। छोटे–से–छोटे घास के तिनके से लेकर विशाल वृक्ष तक ये बादल सुख–यौवन बरसाते हैं–

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु–लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय–घन,
स्मिति–स्वप्न अधर–पलकों में,
उर–अंगों में सुख–यौवन! (जून, 1930)

पर्वतीय प्रदेश में जगह–जगह झरने सभी पर्यटकों को मोहित कर लेते हैं, ऐसे में संवेदनशील कवि हृदय भला इससे अछूता कैसे रह सकता है। पंत जी को झरने के जल से संगीत के स्वर सुनाई देते हैं, तो वे पूछ बैठते हैं–

शुभ्र निर्झर के झर–झर पात!
कहाँ पाया वह स्वर्गिक गान?
शृंग के निर्मल नाद!
स्वरों का यह संधान?

(निर्झर गान – अगस्त, 1922)

प्रकृति के प्रांगण में पेड़–पौधे, नदी–पर्वत, चाँद–सितारे, बादल–बिजली के साथ–साथ पशु–पक्षी, कीट–पतंगे भी कवि को आकर्षित करते हैं। सूर्योदय होने पर पक्षियों का कलरव कवि को सम्मोहित–सा कर लेता है। झरने की ही भाँति छोटी–सी चिड़िया भी, कवि को, मधुर गान गाती प्रतीत होती है। कविवर पंत जी कुतूहलवश प्रश्न करते हैं –

कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय गान?
तुहिन वन में छायी, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण जाल–सी तान!

(सोने का गान, मार्च, 1922)

कवि पंत जी के लिए 'विहग कुमारि' और 'विहग कुमार' में भी पर्याप्त/स्पष्ट भेद है। विहग के गान से संपूर्ण जग रूपी उद्यान कैसे प्रसन्न हो जाता है, उसका वर्णन कवि के शब्दों में–

विजन वन के ओ विहग कुमार,
आज घर–घर में तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान!

(विहग के प्रति, अगस्त, 1930)

पक्षियों का कलरव सबको सुहाता है, कवि के शब्दों में–

कलरव किसको नहीं सुहाता?
कौन नहीं इसको अपनाता?
यह शैशव का सरल हास है,
सहसा उर में है आ जाता!
कलरव किसको नहीं सुहाता?
कौन नहीं इसको अपनाता?

परिवर्तन प्रकृति का सहज–शाश्वत नियम है। प्रातः जो कली थी, वह दिन में फूल बनकर खिली और संध्या होने पर झड़कर अपना अस्तित्व खो देती है। यही जीवन है। जन्म से मृत्यु तक की यात्रा, सांसारिक लेन–देन, आत्मा का परमात्मा से मिलन सबका संकेत पंत जी प्रकृति में पाते हैं –

झर गई कली, झर गई कली।
चल सरित पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली!
है लेन–देन ही जग जीवन,
पर अपना सबका अपनापन,
खो निज आत्मा का अक्षय–धन,
लहरों में भ्रमित, गई निगली!

(गुंजन, फरवरी, 1932)

नदी की चंचल लहरें प्राणवान हैं। उनकी गतिशीलता को कवि नदी के उल्लास के रूप में देखते हैं। 'वीचि विलास' कविता में सुमित्रानंदन पंत जी ने नदी की लहर से संवाद करते हुए कहा है–

अरी सलिल की लोल हिलोर!
यह कैसा स्वर्गीय हुलास?
सरिता की चंचल दृग कोर!
यह जग को अविदित उल्लास!
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर!

(वीचि विलास, मई, 1923)

मधुवन में बहता मलय समीर प्रकृति के पंच तत्वों–भूमि, जल, अग्नि, पवन, आकाश में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रमुख जीवनदायी तत्व है। मलयानिल का एक दृश्य–बिंब प्रस्तुत है–

वितरती गृह–वन मलय–समीर
सांस–सुधि, स्वप्न–सुरभि, सुख, गान,
मार केशर–शर मलय–समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण।
आज तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास
अखिल आकुल, उत्कलित, अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश!

(मधुबन, अगस्त, 1930)

शरद ऋतु की चाँदनी रात विशेष रूप से सम्मोहक होती है। आकाश में न बादल होते हैं, न धूल–अंधड़; ऐसे में स्वच्छ, निर्मल, निर्झर आकाश में फैली चाँदनी का एक हँसता हुआ चित्र कवि के शब्दों में –

नील नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशि–मुख धर,

नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!
वह स्वप्न–जड़ित नत चितवन
छू लेती अग–जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग–जीवन!

(चाँदनी, फरवरी, 1932)

ऐसी चाँदनी रात में कवि नौका विहार के लिए निकलते हैं। रात्रिकालीन सौंदर्य का अनुपम चित्रण पंत जी जैसा समर्थ कवि ही कर सकता है।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर!
मृदु मंद–मंद, मंथर–मंथर, लघु तरणि, हंसिनी–सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालों के पर! (नौका–विहार)

छायावाद की एक प्रवृत्ति है – रहस्यवाद। पंत जी प्रकृति के अणु–अणु में उस अनंत की ज्योति को विस्मय–विमुग्ध भाव से देखते हैं। इसी विस्मय भावना में रहस्यवाद के बीज छिपे होते हैं। कवि को ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति के नक्षत्र, बिजली, सुगंध, लहरें, फूल, पक्षी अर्थात् विविध तत्व उसे मौन निमंत्रण दे रहे हैं–

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु–सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!

पंत जी प्रकृति की विराट अज्ञात सत्ता की ओर आकर्षित एवं मुग्ध होते हैं, प्रकृति की चिर प्रसन्नता का आधार निज व्यष्टि को समष्टि रूप में समाहित कर देना मानते हैं और प्रकृति के सहज कार्यव्यापारों में रहस्य की सभी प्रवृत्तियाँ – चरम चेतना का बोध, प्रकृति के प्रति विस्मय एवं जिज्ञासा, प्रेमानुभूति, एकाकारिता और विरहवेदना आदि देखते हैं। इसी कारण पंत के रहस्यवाद को 'प्रकृति रहस्यवाद' भी कहा गया। पंत जी प्रकृति के अंतः सौंदर्य पर ही ध्यान केंद्रित रखते हैं। उनके लिए प्रकृति सजीव है, प्रकृति का प्रत्येक अंग चेतनायुक्त है –

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर–लहर रे?
गति गति, सृति सृति, चिर भरिता!

(जनवरी, 1932)

समग्रतः कहा जा सकता है कि पंत जी सौंदर्य के कवि हैं। उनका यह सौंदर्य सत्य और शिव से युक्त है। डॉ. नगेंद्र जी तो पंत जी की कविता का केंद्रीय विषय प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक सौंदर्य को ही मानते हैं। वस्तुतः पंत जी की समस्त काव्य चेतना प्रकृति की विराट सुषमा से आप्लावित है। उनकी सुकुमार हृदय–कलिका तो पल्लव, वीचिजाल, किरण, ज्योत्स्ना, संध्या, छाया, समीर, इंदु, सुरभि, तारिकाओं, विहग कुमारियों आदि के साहचर्य में ही सुख पाती है। सुकोमल प्रकृति के अंतर में प्रवेश करके कविवर पंत अपनी चिर नूतन कल्पना शक्ति का सहारा लेकर उसके रूप सौंदर्य के एक से बढ़कर एक अनुपम चित्र उकेरते चले जाते हैं और पाठक, श्रोता, आलोचक भी मंत्र मुग्ध होकर प्रकृति के साथ एकाकार हो जाते हैं।

– सुर–सदन, डब्ल्यू. जेड. 1987, रानी बाग, दिल्ली–110034

❑❑❑

आदिवासी हालात और जनसंघर्षों की पड़ताल

केदार प्रसाद मीणा

हिंदी साहित्य में दलित और आदिवासी विमर्श आपस में कई मायने में समानता रखते हैं, तो कई मायने में अपने किस्म की कुछ भिन्नता भी रखते हैं, ये भिन्नताएँ भी आपस में विरोध नहीं रखती हैं, बस अलग स्वरूप की पहचान ही अधिक कराती हैं। दलित विमर्श वैचारिकी में अपने महापुरुषों के योगदान और विचारों को अपनी प्रेरणा के रूप में देखता है और उनके आदर्शों को ध्यान में रखते हुए अपनी साहित्यिक विधाओं और सामाजिक संघर्ष को नई राह दिखाता है। आदिवासी विमर्श भी कई बार इन महापुरुषों से प्रेरणा पाता है, विशेषकर बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर से, पर आदिवासी विमर्श की मुख्य प्रेरणा धरती हमारी सबकी वास्तविक धरती यानी जमीन और इसके अभिन्न तत्व जल और जंगल हैं। जल, जंगल जमीन और अपनी अलग भाषा और संस्कृति आदिवासी विमर्श की वैचारिकी के मुख्य प्रेरणास्रोत हैं। दलित विमर्श का वर्णनीय केंद्रीय विषय सवर्ण समाज के द्वारा वर्ण व्यवस्था और छुआछूत के आधार पर दलित समाज का सदियों तक किया गया अमानवीय शोषण है, तो आदिवासी विमर्श का वर्णनीय केंद्रीय विषय आदिवासियों का महाजनों– जमींदारों द्वारा किया गया आर्थिक– मानसिक शोषण और हर प्रकार के उपनिवेशवाद के विरोध में इनके द्वारा खड़े किए गए सशस्त्र विद्रोह हैं। दलित विमर्श मुख्यधारा के समाज और हुक्मरानों से अपने लिए अधिकारों और सुविधाओं की माँग को पुरजोर तरीके से रखता है, तो दूसरी तरफ आदिवासी विमर्श अपने जल–जंगल–जमीन को बचाने की लड़ाई अंत तक करने की बात पुरजोर तरीके से करता है। यह देश की मुख्यधारा के समाज से अपनी भिन्न संस्कृति को समझने का आग्रह करते हुए उसको सम्मान दिलाने और अपनी भाषाओं को बचाने हेतु प्रावधानों की माँग करता है। आदिवासी विमर्श उपनिवेशवाद–साम्राज्यवाद के विरुद्ध सदियों से किए अपने संघर्षों के प्रति सम्मानजनक अकादमिक और सामाजिक माहौल का आग्रह रखता है। दलित विमर्श का मुख्य स्वर सत्ता से अपनी हिस्सेदारी की माँग का है, तो आदिवासी साहित्य का मुख्य स्वर सत्ता के शोषणकारी रूप से लड़कर, सत्ता के सुरक्षा देने वाले रूप के साथ मिलकर अपनी प्राकृतिक संपदा और सांस्कृतिक पहचान को बचाने का है।

दलित साहित्य में क्योंकि जातिगत शोषण और छुआछूत की अभिव्यक्ति अधिक है। इसलिए इसमें आत्मकथा एक प्रमुख विधा के रूप में उभरकर सामने आई। आदिवासी साहित्य में क्योंकि गौरवशाली और संघर्षपूर्ण इतिहास और संस्कृति की अभिव्यक्ति अधिक हुई इसलिए इसमें कविता से भी बढ़कर उपन्यास एक महत्वपूर्ण विधा साबित हुआ है। हिंदी भाषा में लिखे गए आदिवासी साहित्य में कई महत्वपूर्ण उपन्यास सामने आए हैं जो आदिवासियों की संस्कृति, उनके संघर्ष और गौरवशाली इतिहास

को विषय बनाते हैं। कई उपन्यास तो सीधे–सीधे उनके ऐतिहासिक विद्राहों को ही अपना आधार विषय बनाते हैं, जैसे कि हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' और राकेश कुमार सिंह का 'जो इतिहास में नहीं है' आदि। कई उपन्यास उनके समकालीन संघर्षों पर केंद्रित सामने आए हैं, जिनमें इनका संसदीय राजनीतिक संघर्ष और जन आंदोलन आधारित जमीनी संघर्ष शामिल है। संसदीय राजनीति पर केंद्रित विनोद कुमार के उपन्यास 'समर शेष है' और 'मिशन झारखंड' बेहद चर्चित रहे। 'समर शेष है' में उन्होंने आदिवासियों के द्वारा अस्तित्व बचाने के लिए चले जमीनी संघर्ष से उपजी सकारात्मक राजनीति को विषय बनाया है, जिसका नेतृत्व मशहूर नेता शिबू सोरेन एवं उनके पिता सोबरन मांझी करते हैं, वहीं 'मिशन झारखंड' में उन्होंने संसदीय राजनीति की जटिलताओं से अनजान आदिवासी नेताओं की खरीद फरोख्त और मुख्यधारा की शीर्ष राजनीति द्वारा उनका इस्तेमाल किए जाने को विषय बनाया है। इसके केंद्र में झारखंड के पूर्व मुख्यमंत्री मधु कोड़ा और उनके पाँच निर्दलीय विधायक साथी हैं। आदिवासी समाज पर कुछ आदिवासी लेखकों ने उपन्यास लिखे और बहुत से गैर आदिवासी लेखकों ने भी लिखे हैं। आदिवासी विमर्श में सभी का महत्व समझा गया। मगर कई ऐसे उपन्यास भी सामने आए हैं जो बहुत चर्चित हुए, आदिवासी समाज के होने वाले शोषण को भी उन्होंने बहुत प्रतिबद्धता से सामने रखा है। मगर वे उपन्यास आदिवासी साहित्य की श्रेणी में स्वीकार नहीं किए गए। वीरभारत तलवार के शब्दों में, "हिंदी में आदिवासी के बारे में लिखनेवाले बहुत कम हैं, और बहुत सारे उपन्यास ऐसे हैं जो बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। उसका कारण यह है कि हिंदी के लेखकों की दुनिया बहुत सीमित है। आदिवासी समाज ऐसा नहीं है कि आप जिस तरह मध्य वर्ग के समाज पर लिखते हैं, वैसे आदिवासी समाज पर लिख देंगे... 'गगन घटा महारानी' हो या महाश्वेता देवी का 'जंगल के दावेदार' उपन्यास हो, वह इस प्रकार से आदिवासी की वर्ग चेतना को तो देख पाते हैं, (पर) इनके उपन्यासों में आपको कहीं भी आदिवासियों की आंतरिक कशमकश नहीं मिलेगी।"[1] तो कहना यह है कि कई उपन्यास आदिवासी समाज पर ऐसे लिखे गए हैं जो इस समाज की आदिवासियत को यानी संस्कृति और जीवन पद्धतियों को आदिवासी नजरिए से व्यक्त करने में सफल नहीं रहे हैं। हालाँकि ये आदिवासी समाज के आर्थिक शोषण और उनकी विस्थापन जैसी समस्याओं को काफी प्रभावी तरीके से सामने लाते हैं जैसे कि महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' और अश्विनी कुमार पंकज का 'माटी–माटी अरकाटी' और कथाकार संजीव के कई उपन्यास। कई उपन्यास आदिवासी समाज पर गैर आदिवासी संवेदनशील लेखकों ने ऐसे लिखे हैं जो आदिवासियों के समकालीन संघर्ष को लगभग यथारूप में अभिव्यक्त करते हैं, या कहें कि साहित्यिकता और लेखकीय कल्पनाशीलता के बावजूद वे वास्तविकता के बेहद करीब ठहरते हैं– समाज की वास्तविकता के संदर्भ में भी और लेखक की संवेदनशीलता और वैचारिक आग्रहों के अर्थ में भी। ऐसे ही दो महत्वपूर्ण उपन्यास हैं– रणेंद्र का लिखा 'गायब होता देश' और विनोद कुमार का लिखा उपन्यास 'रेड जोन'।

'ग्लोबल गाँव के देवता' के बाद 'गायब होता देश' रणेंद्र का दूसरा उपन्यास है। यह उपन्यास भी 'ग्लोबल गाँव का देवता' की तरह वैश्विक पूँजीवाद के दबाव में बनी आर्थिक नीतियों के साथ नई–नई विकास परियोजनाओं के चलते विस्थापित होते, टूटते–बिखरते और लगातार गायब होते जा रहे आदिवासी समाज की समस्याओं की कहानी कहता है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' ने आदिवासियों के विस्थापित और बर्बाद होने की कहानी असुर आदिवासी समुदाय के बहाने कही थी और 'गायब होता देश' मुंडा आदिवासी समुदाय के बहाने यह कहानी कहता है। विशेष नई बात इसमें यह है कि यह आदिवासियों के भीतर पनपे स्वार्थी और लगभग आदिवासी विरोधी मानसिकता के मध्यम वर्ग की भूमिका को भी सावधानी से विषय बनाता है। इस उपन्यास की मुख्य कहानी

पत्रकार किशन विद्रोही के मिथिला क्षेत्र में स्थित अपने गाँव से आंरभ होती है। यह कहानी खुद किशन के हाथों अपनी डायरी में दर्ज की गई है, मगर इस डायरी का बड़ा और प्रासंगिक हिस्सा मुंडा आदिवासी समुदाय के जीवन के खुशहाल कम और बदहाल अधिक, रंगों से रंगा है। इस तरह मुंडा आदिवासियों के दुःख–दर्द की कहानी ही उपन्यास की मुख्य कहानी बन गई है। मुंडा आदिवासियों की इस कहानी को लेखक ने संक्षेप में पंद्रहवी शताब्दी से शुरू किया है। जब अफ़गान सेनाए 'सोना लेकिन दिसुम' मुंडा देश में हाथियों, सोने और हीरों के लिए आईं थी। और फिर यहीं से शुरू हुआ बताया जाता है मुंडाओं का जीवन संघर्ष। डायरी में व्यक्त इस संक्षिप्त परिचय से ही मुंडा लोगों के संघर्ष और गौरवशाली इतिहास और सांस्कृतिक समृद्धि का आभास हो जाता है।

उपन्यास में मुंडाओं के ऐतिहासिक विद्रोहों– तमाड़ विद्रोह, कोल विद्रोह, सरदारी लड़ाई, बिरसा 'उलगुलान' को बार–बार प्रसंगवश याद कर इनके प्रति न केवल सम्मान प्रकट किया गया है, बल्कि नेपथ्य में कहीं न कहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि जब तक मुंडा अपने ढंग से लड़ते रहे हैं, तब तक अपने लिए कुछ न कुछ हासिल करते रहे हैं, मगर आज़ादी के बाद आदिवासी केवल लड़े हैं और 'दिकू' समाज के द्वारा मारे गए हैं। आज़ाद भारत देश में इनके संघर्ष को न उचित सम्मान मिला है, न आदिवासियों को इनके हक मिले हैं। उनकी जमीनें आज भी लगातार छीनी जा रही हैं। उपन्यास का बुद्धिजीवी पात्र डॉ. सोमेश्वर मुंडा कहते हैं, "कल भी सवाल जमीन का था आज भी सवाल जमीन का ही है, कैसे कहें कि आजादी मिली है।[2]" देश के हक में बांग्लादेश के युद्ध में शानदार प्रदर्शन कर राष्ट्रपति के हाथों वीरचक्र प्राप्त करनेवाला बहादुर मुंडा परमेश्वर पाहन की एक रात पुलिस के हाथों हत्या करवा दी जाती है। इसके बाद 'विकास' और 'विस्थापन' के नाम पर जंग शुरू होती है। अंततः दुलमी नदी पर बड़ा बाँध बनता है और उसमें एक सौ सतरह गाँव तथा पचास मील में फैले खेत–जंगल डूब जाते हैं।

आदिवासी इलाकों में चले ऐसे विभिन्न 'विकास कार्यों से, बताया जाता है कि 1951–1990 के बीच ही कोई दो करोड़ तेरह लाख लोग विस्थापित हुए हैं, इनमें कोई नब्बे फीसदी हिस्सा आदिवासी लोगों का है। इन कुल विस्थापितों में से कोई 53 लाख मात्र का जैसे–तैसे पुनर्वास किया गया है, जिनमें आदिवासी लोग मामूली ही हैं। आँकड़े बताते हैं कि झारखंड के अकेले बोकारो कारखाने हेतु छियालीस गाँव के बारह हजार आदिवासी परिवार उजाड़े गए हैं। 1990 के बाद ये विकास कार्य कुछ इस तरह चले कि आदिवासी क्षेत्रों में जगह–जगह तबाही का आलम देखा गया। कई गाँव कारखानों–खदानों–बाँधों–अभ्यारणों के नाम पर सरकारों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने हड़प लिए और इन गाँवों के निवासी आदिवासी लोग भूख और बदहाली के दलदल में धकेल दिए गए। उपन्यास का आदिवासी पात्र कहता है, "हमारे धान के खेतों को रौंद कर, हमारे सरना–मसान को मिटाकर कारखाना बन गया। लेकिन बीस–पच्चीस साल बीतते–बीतते भरभसा कर बैठ गया। का मिला नेहरू बाबा को सैकड़ों एकड़ धनहर खेत उजाड़कर, सैकड़ों किसान परिवार को मजूरा–भिखमंगा बनाकर....[3]" ऐसी त्रासदीपूर्ण योजनाओं का विरोध करने वाले और उचित पुनर्वास की माँग करने वाले आदिवासियों को नक्सलवादी घोषित कर बड़े पैमाने पर एनकाउंटर में मार दिया गया। महिलाओं के साथ भारी दुराचार हुए। लाखों लोग भूख–प्यास और बीमारियों से मर गए। बाकी लोग शहरों–कस्बों की झुग्गियों में नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो गए। आदिवासी समाज के बड़े जन बुद्धिजीवी रामदयाल मुंडा हमेशा व्याख्यानों और अनौपचारिक बातचीत में कहा करते थे कि अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए जब भी आदिवासी खड़ा हुआ, तो देश ने उसे विकास–विरोधी और देश–विरोधी करार दिया। किसी देश के उस समुदाय को, जो अपने को देश का प्रथम नागरिक और देश रक्षा में खड़ा होने वाला प्रथम सैनिक मानता है, जब देश–विरोधी करार दिया जाता है, तो उस समुदाय के लिए इससे बड़ी अपमानजनक और कष्टदायक बात क्या हो सकती है? किंतु इसी

बहाने देश के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासियों को सेना और पुलिस बल की बनावटी मुठभेड़ों में बड़ी संख्या में आज भी मारा जा रहा है। किसी विदेशी आक्रमणकारी शक्तियों से लड़ते–लड़ते मर जाना एक बात है, किंतु यहाँ तो आदिवासी अपने रक्षक बलों द्वारा ही मारा जा रहा है।

उपन्यासकार रणेंद्र ने गाँव से विस्थापित होकर शहरों की झुग्गियों में आ बसे आदिवासियों की त्रासदी को भी इस उपन्यास में सामने रखा है। जब ग्रामीण आदिवासी अपने गाँव–जंगल में 'दिकुओं महाजनों से लड़ रहा था, विस्थापन के खिलाफ संघर्ष कर रहा था, उन दिनों में शहर के आसपास की जमीनें उत्तर बिहार के गैर आदिवासी लोग हड़प रहे थे। गाँव का विस्थापित आदिवासी मजबूरन जब शहर पहुँचा, तब आवास हेतु उसके लिए गंदे नालों और कचरे के ढेरों पर ही जगह बची रह सकी थी। हरे–भरे जंगल और खेत खोकर पुनर्वास के अभाव में भटकते आदिवासी ऐसी जगहों पर रहने को मजबूर हो गए। एदलहातु–जोजोहातु–हीराहातु–उलिहातु आदि गाँवों से विस्थापित हुए विभिन्न समुदायों और विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासी किशनपुर शहर की मदुकम–हिसिर–बीर बुधु भगत और बिरसाडीह नामक गंदी–मलिन और बिजली–पानी के लिए तरसती बस्तियों में समा जाते हैं। यहाँ आने के बाद आदिवासी शहर में रोजगार की आस में टूट जाते हैं। उनके युवा लड़के नशे में और माफिया लोगों के साथ अपराधों में डूब जाते हैं। माफिया और नेता इनकी ताकत का दुरुपयोग करते हैं। अपने आदिवासी मूल्यों से कट चुके ये आदिवासी युवा मंगरा माय जैसी बुजुर्ग महिला का बलात्कार तक कर देते हैं। इन बस्तियों की लड़कियाँ मजबूरन यहाँ–वहाँ अपमानित –शोषित होती हैं। अनिल पोद्दार अकेला असंख्य गरीब लड़कियों के साथ अपने फार्म हाउस पर अनाचार करता है। निरंजन राणा और उसके जैसे कई माफिया–गुंडों के साथी बस्ती की लड़कियों का पीछा करते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि आदिवासियों को इन मलिन बस्तियों से भी खदेड़ दिया जाता है। यहाँ बड़े–बड़े अपार्टमेंट बनाए जाने लगते हैं। आदिवासी बस्तियाँ उजाड़ दी जाती हैं और दो सौ पाँच माले तक के अपार्टमेंट बनने लगते हैं। गरीब आदिवासी ताकते रह जाते हैं और बिरसाडीह छोडकर शहर से और दूर की और अधिक बदहाल जगह 'डॉ. अंबेडकर' बस्ती में रहने चले जाते हैं। इस तरह आदिवासियों को धीरे–धीरे जंगल से निकालकर मुख्यधारा के समाज के स्थानीय शोषित दलित वर्ग में मर्ज कर दिया जाता है। आदिवासियों की दलित समाज से भिन्न संस्कृति और भाषाएँ रही हैं, जिसे क्रमिक विस्थापन की यह प्रक्रिया क्रमशः नष्ट कर रही है; और इसकी भरपाई कोई मुआवजा या आर्थिक सहयोग नहीं कर सकता। हेरोल्ड एस. तोपनो सही लिखते हैं कि "मुआवजे से कहीं अधिक सोचनीय बात, जिसकी ओर सरकार का ध्यान कभी नहीं गया वह आदिवासियों के सांस्कृतिक विस्थापन की है। हजारों वर्षों से जो लोग एक साथ गाँव में रहे, वे देश के अलग–अलग कोनों में और नितांत अजनबी परिवेश में किस तरह अपने को अनाथ और निराश्रित पाते हैं प्रश्न उठता है कि उन्मूलन बोध को मुआवजे के कितने पैसों से दूर किया जा सकता है?[4]"

पिछले दो–ढाई दशक में आदिवासी समाज में भी एक खाता–पीता मध्यम वर्ग पनपा है। इसका बड़ा हिस्सा वह अफसर वर्ग है जो आरक्षण के लाभ से सरकारी सेवा में आकर सशक्त हुआ है। यह वर्ग उच्च वर्ग और मुख्यधारा के समाज का पिछलग्गू और अपने आदिवासी समाज के प्रति गैर जिम्मेदार वर्ग है। यह वर्ग काफी भ्रष्ट भी है और भ्रष्टाचार की कमाई से आदिवासी समाज में अनेक सामाजिक बुराइयों जैसे दहेज प्रथा को बढ़ावा दे रहा है। भारी अफसोस इस बात का है कि यह गरीब आदिवासी समाज के हिस्से को ही लूटकर उसी पर सामंतों–जमींदारों के समान अपनी राजनीतिक हुकूमत स्थापित करके संकीर्ण सत्ता में डूबा हुआ है। उपन्यासकार को इस स्वार्थी और भ्रष्ट आदिवी मध्यम वर्ग से बेहतरी की कोई उम्मीद नहीं, इसलिए वे आदिवासी समस्याओं का समाधान 'उलगुलान' अर्थात् जनसंघर्ष में देखता है। शायद इसीलिए उपन्यासकार का पात्र विक्टर तिग्गा ऐसे अधिकारी वर्ग को 'गद्दार' कहता है, वह सोमेश्वर मुंडा से कहता है, "बाबा हम सोचते थे हम ही

पुराना पापी हैं। समाज के गद्दार बाकी हमारों से सवा सेर–डेढ़ सेर जन से भेंट हो गया। खाली नामे भर के आदिवासी हैं ई लोग बाबा कल रिजर्वेशन खत्म कर दीजिए तो अपना के आदिवासी कहने में भी शर्मायेगा ई साहब लोग"। उपन्यासकार का सही ही कहना है कि ईमानदार जनसंघर्ष और समानधर्मा गैर आदिवासी संगठनों के सहयोग के रास्ते ही आदिवासी अपनी समस्याओं के समाधान पाने में दूर तक सफल हो सकते हैं। उपन्यास के कई पात्र गैर आदिवासी हैं, मगर गरीब आदिवासी लोगों की पीड़ा को वे आदिवासी समाज के भ्रष्ट अधिकारी वर्ग से बेहतर समझते हैं और आदिवासी संस्कृति के प्रति संवेदनशील रवैया रखते हैं।वे सब आदिवासियों के हक में संघर्ष करते हैं और अपना बलिदान देते है। सोमेश्वर मुंडा उनके इस बलिदान को सराहते हैं और उपन्यास के अंत में अपनी इस लड़ाई में आदिवासियों का साथ देने के लिए दुनियाभर के प्रबुद्धजनों का आह्वान करते हैं।

आदिवासी समाज का शोषण कई तरीकों से किया जाता रहा है। ये बार–बार ठगे गए। ऐसा नहीं है कि वे मेहनती नहीं थे या वे लड़ नहीं सकते थे, वे बार–बार ठगे गए, क्योंकि वे "सबकी इज्जत करना, सम्मान करना, कम में संतोष करना और ज्ञान बढ़ाना, यही जिंदगी का मकसद मानते हैं और इसलिए भी ताकत इकट्ठा करने वाले, धन इकट्ठा करने वाले उन्हें दुश्मन मानते थे[5]"। इस तरह आदिवासी इस देश की मुख्यधारा के समाज के लिए नरम चारा बन गए। ये संग्रह करते नहीं थे और संग्रह करने वाली सभ्यता ने इनका सबकुछ छीनकर संग्रह करना शुरू कर दिया। इन्हें लूट लिया गया। महाजनों– जमींदारों और पुलिस ने इनका असीमित शोषण किया। सदियों तक महाजनी शोषण–जमींदारी शोषण इनकी सबसे बड़ी समस्या रही। जिसे झारखंड क्षेत्र में सत्तर के दशक में शिबू सोरेन ने संथाल परगना में आंदोलन चलाकर लगभग हमेशा के लिए खत्म कर दिया। इसके अलावा एक बहुत 'खूबसूरत' समस्या और भी है। सोमेश्वर मुंडा आदिवासी समाज के जयपाल सिंह मुंडा की तरह विदेश तक पढ़कर काबिल हुए आदिवासी व्यक्ति हैं, इसी काबिलियत पर रीझकर एक विदेशी बाला उनसे शादी करती है और बाद में सोमेश्वर मुंडा की प्रतिभा और ताकत का इस्तेमाल कर उन्हें छोड़कर चली जाती है। सोमेश्वर मुंडा अपने को 'लुटा हुआ' महसूस करते हैं। वह गैर आदिवासी औरत एक प्रतिभावान आदिवासी की तमाम क्षमताओं का दोहन कर लेती है। अनिल पोद्दार आदिवासी माँ–बाप की इकलौती बेटियों और इकलौती विधवा बहुओं से दिखावे का प्रेम करता है, उनका विश्वास जीतता है और इस तरह छत्तीस झूठी शादियाँ करके उन आदिवासी बालाओं की संपत्ति हड़प लेता है। इतिहास गवाह है कि आदिवासी महिलाओं से शादी करके उनकी संपत्ति को लूटा जा रहा है। तो क्या इस दौर में आरक्षण से मिलने वाली नौकरियों और कई अन्य योजनाओं से मिलने वाली सरकारी सहायता को ध्यान में रखकर आदिवासी बालाओं से गैर–आदिवासी लोग खूब 'प्यार' व 'दंपत्य' संबंध नहीं बना रहे हैं? प्रेम करना और अपनी समझ के साथी के साथ जीवन जीना मनुष्य का अधिकार है, मगर कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रतिभाशाली आदिवासी युवक–युवतियों के साथ प्रेम के नाम पर, शादी के नाम पर छलावा हो रहा है और इस तरह आदिवासी समाज को नुकसान पहुँचाने की खूबसूरत योजना को अंजाम दिया जा रहा है?

आदिवासी समाज के समकालनी संघर्षपूर्ण राजनीतिक परिवेश को समझने के लिए दूसरा अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास है– 'रेड जोन'। विनोद कुमार झारखंड के आदिवासी समाज और राजनीति के बड़े लेखक हैं– विशेषकर 'झारखंड मुक्ति मोर्चा' और शिबू सोरेन की राजनीति के। वे बहुत संवेदनशील ढंग से इनका करीब से देखा हाल कहते हैं। इनके शुरुआती उपन्यास– 'समर शेष है' और 'मिशन झारखंड' भी इस बात के गवाह रहे हैं। इनके उपन्यास एक तरह से झारखंड की राजनीति की एक धारा की साहित्य श्रृंखला है। उपन्यास 'रेड जोन' इस दिशा में इनका तीसरा बड़ा पड़ाव है। यह एक तरह से उसी श्रृंखला का तीसरा स्वतंत्र उपन्यास है। 'समर शेष है' झारखंड

के संथाल इलाकों में विस्थापन की दखल और संथालों के उस दौर के नायक 'गुरुजी' अर्थात् शिबू सोरेन के संघर्ष की शुरुआती गाथा कहता है। 'समर शेष' के दौर के बाद इन आदिवासी इलाकों में कई तरह की त्रासदियाँ और पनपी हैं। यह उपन्यास उन त्रासदियों, उनसे छुटकारे के लिए सदियों से चल रहे झारखंड आंदोलन के उत्तरार्द्ध के उतार–चढ़ाव व आदिवासी जननायक शिबू सोरेन के प्रौढ़ राजनीतिक जीवन के संघर्ष की कहानी भी है।

उपन्यास 'रेड जोन' की कहानी के अनुसार, संथाल भाई–बहन कालीचरण और दुर्गा का गाँव लेवाटांड कभी बहुत आबाद और खुशहाल गाँव था जो लौहनगरी के कारखाने के लगने के बाद विस्थापितों के गाँव में बदल गया कारखाना लगने के बाद यह खुशहाल परिवारों और लहलहाते खेतों से गंदी बस्ती में तब्दील हो गया। कारखाने का सारा रासायनिक कचरा और कारखाने के चलते बसी लौहनगरी शहर की सारी गंदगी आदिवासी बस्ती और दामोदार नदी में उड़ेल दी जाती है। जमीन और घर खो चुके आदिवासी आजीविका के लिए मजबूरन कोयला और लकड़ी चुराने का काम करने लगते हैं। "लौह कारखाने के कारण लोग विस्थापित होने वाले गाँव के आदिवासी मूलवासी मेहनतकश थे, लेकिन औद्योगीकरण के बाद बदली परिस्थितियों ने उन्हें कारखाने के झूठन व चोरी –चकारी पर जीवन बसर करने वाली जमात में बदल दिया था।[6]" कभी नेहरू ने कहा था कि आदिवासियों को वहीं नहीं छोड़ा जा सकता जहाँ वे पड़े हैं, पर आदिवासियों के हुए इस बेतरतीब विस्थापन को देखकर लगता है कि अगर इनको वहीं पड़े रहने दिया जाता तो शायद इस तरह के 'विकास' से अधिक अच्छा होता। आदिवासियों की जमीनें छीन ली गई। इसके लिए उनकी ग्राम सभाओं से कानूनन इजाजत ली जानी थी जो या तो ली नहीं गई या कई बार आदिवासी मुखियों को डराकर–भ्रष्ट बनाकर ली गई। इन जमीनों के लिए उनको उचित मुआवजा भी नहीं दिया गया। बताया जाता है कि बोकारो कारखाने के आबंटित मुआवजे में से कोई सात करोड़ रुपए आदिवासियों को नहीं दिए गए और यह पैसा अब भी सरकारी खजाने में जमा है। सरकार कहती है कि यह बकाया मुआवजा कारखाना प्रबंधन देगा और कारखाना प्रबंधन कहता है कि वह सारा मुआवजा सरकार को बहुत पहले ही दे चुका है तो इसे अब सरकार चुकाएगी। इस बहस में आदिवासी पिस गए। जो थोड़ा–बहुत मुआवजा सरकार या कारखाने ने आदिवासियों को दिया। उसकी हकीकत भी चौंकाने वाली है। अधिग्रहण के वक्त जमीन की कीमत बहुत नाकाफी लगाई गई। बदहाल लेबाटांड गाँव की दुर्गा कारखाने की तरफ अंगुली दिखाकर कहती है, "वह लील गया हमारे गाँव, हमारे खेत–खलिहान और जंगल"। 'रेड जोन' के लेखक विनोद कुमार लंबे समय तक पत्रकार रहे हैं। वे आदिवासी विस्थापन और मुआवजे संबंधी प्रामाणिक आँकडों के आधार पर अपनी बात करते हैं। उन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक 'आदिवासी संघर्ष गाथा' में बताया कि "बोकारो स्टील से भरपाई के रूप में डी.पी.आर. कार्यालय को बारह करोड़, सत्तरह लाख, बारह हजार, दो सौ छियासठ रुपए प्राप्त हुए थे, लेकिन विस्थापितों को उनमें से मात्र छह करोड़, अठानवे लाख, उन्नीस हजार रुपए ही दिए गए हैं, शेष राशि सरकारी खजाने में जमा है।[7]"

आदिवासी अपने ही गाँवों में पराए होते जा रहे हैं। आदिवासी लोग राजनीतिक रूप से कई भागों में बँटकर मात्र वोट बैंक बने हुए हैं। इसलिए आदिवासी राजनीति कमजोर बनी हुई है। केवल अपने संख्या बल पर वह चल नहीं सकती, निर्णायक शक्ति बन नहीं पा रही। नतीजन वह 'दिकुओं' के प्रभुत्व वाली बड़ी राजनीतिक पार्टियों का नरम चारा बनी हुई है। इन हालात को कैसे बदला जा सकता है? सामान्य आदिवासी की तरह उपन्यासकार खुद दिग्भ्रमित है। वह एक समाधान बताता है– 'टाटा–जिंदल को भगाओ' के नारे लगाते हुए अहिंसक जनांदोलन और पदयात्राएँ करना, जिनमें सब राजनीतिक दलों से जुड़े आदिवासी नेता शामिल हों और शोषक शक्तियों को ललकारें पर उपन्यासकार खुद ही अपने इस विचार पर संदेह भी करता है– "ये मुट्ठी भर लोग, पागलों की यह

जमात क्या भगा पाएगी दुनिया के सबसे बड़े स्टील जायंट मित्तल को, भूषण और नीलांचल को?" उपन्यास का पात्र पत्रकार मानव तो अपने व्यक्तिगत जीवन की हताशा को कुछ दिन भुलाने के लिए ऐसी ही एक पदयात्रा में शामिल हो जाता है, पर उपन्यासकार आदिवासियों की समस्याओं का अपने तई कोई समाधान नहीं बता पाता है। उपन्यास के सारे घटनाक्रमों का अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष सामने आता है कि आदिवासियों की समस्याओं के स्थायी समाधान अब मजबूत और ईमानदार संसदीय आदिवासी राजनीति से ही निकलेंगे। बाकी लगभग सब रास्तों के आगे बंद गलियाँ हैं।

आज आदिवासियों की सबसे पहले जरूरत है 'अबुआ राज' की भुला दी गई राजनीतिक चेतना को समझना, उसके सहारे अपने दुश्मनों की सही–सही पहचान करना और फिर आज के दौर में संभव राजनीतिक संघर्षों की लोकतांत्रिक पद्धतियों को अपनाकर निर्णायक जन संघर्ष करना। तब ही आदिवासी अपना अस्तित्व बचा सकेंगे, वरना भाषाएँ, साहित्य और संस्कृति को बचाना तो दूर, आनेवाली शताब्दी में आदिवासी आबादियों के चिह्न तक नजर नहीं आएँगे। उपरोक्त दोनों उपन्यासकार अपने–अपने उपन्यास में कुल मिलाकर यही प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष संदेश देते हैं; और आदिवासी इलाकों में पिछले कई दशक से जो नरसंहार चल रहे हैं, उन्हें देखकर आज कहा भी यही जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वीरभारत तलवार : लेख–आदिवासी अस्मिता का सवाल, पुस्तक–आदिवासी विमर्श (संपादक–रमेश चंद मीणा), राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2013, पृष्ठ–3
2. रणेंद्रः गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली, 2014, पृष्ठ–91
3. रणेंद्रः गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली, 2014, पृष्ठ–104
4. हेरोल्ड एस. तोपनो–उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, (संपा–अश्विनी कुमार पंकज), विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृष्ठ–92
5. रणेंद्रः गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, दिल्ली, 2014, पृष्ठ–107
6. विनोद कुमार–रेड जोन अनज्ञा बुक्स, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ–35
7. विनोद कुमार–आदिवासी संघर्षगाथा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–82

– एसोसियेट प्रोफेसर हिंदी, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, शेख़ सराय–2, नई दिल्ली–110017

❑❑❑

बाज़ारीकरण के दौर में वैश्वीकरण का संकट

बिर्ख खडका डुवर्सेली

आज का युग अजीबोगरीब दौर से गुजर रहा है। झूठी बातों को बार–बार कहकर या कहलवाकर सत्य साबित करने की कोशिश हो रही है और कामयाबी भी मिल रही है। अनकही बात अचर्चित वस्तु सच होने के बावजूद भी झूठ के आगे टिक नहीं पाती है। बाजारीकरण के इस दौर में मैसेज, मीडिया और मॉडल के भरोसे बाजारों में उत्पाद या जन–सेवा कार्य परोसने की बाध्यता आ गई है और परोसी जा रही है। इसलिए बड़े–बड़े शहरों में ही नहीं, छोटे शहरों में भी बिग बाजार, डिमार्ट मेगामार्ट, सिटी सेंटर खुल रहे हैं और प्रिंट या इलेक्ट्रोनिक मीडिया के जरिए सच को दबाकर ज्यादा झूठ को परोसने की होड़ लगी है। सोशल मीडिया के विभिन्न रूपों में जैसे फेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर, इंस्टाग्राम का व्यापक सदुपयोग किया जा रहा है। सहुलियत, उपलब्धता, समय की बचत आदि नजरियों से विचार करके लोग बाजार की ओर बड़ी तादात में आकर्षित हो भी रहे हैं, क्योंकि ज्यादा विचार–विमर्श या विश्लेषण करने का समय लोगों के पास नहीं है।

"यथार्थ जानना हो तो वह न देखो जो तुम्हारे आगे दिखाया जा रहा है, वह देखो जो नहीं दिखाया जा रहा है।" खलील जिब्रान ने वैश्वीकरण के दौर में हो रहे विज्ञान या प्रचार–प्रसार के पीछे छुपे सत्य को उजागर पहले ही कर दिया था, लेकिन आज के बाजार में खलील की बातों की खासियत कम ही लोग समझ पा रहे हैं।

जब से भूमंडलीकृत आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को स्थापित और लोकप्रिय करने के लिए विज्ञापन पर ज्यादा खर्च करने को बहुत तवज्जो दी जा रही है, तब से विशेष उपभोक्तावादी संस्कृति और भक्ति की नीति चर्चा में है, जिससे विज्ञापन का बाज़ार अपने आप बढ़ता जा रहा है। उपभोक्ताओं को येनकेन प्रकारेण फँसाने के लिए जाल को बिछाने का काम कायदे के साथ संप्रेषणीय भाषा में और तरीके से किया जा रहा है। सच को सच कहने के बजाय उपभोक्ताओं के दिमाग में नई अवधारणाओं के बीजारोपण करने के लिए झूठ पर पॉलिश लगाने की कला–कौशल की खोज हो रही है। इसलिए झूठ को विभिन्न नज़रिए से सच का जामा पहनाकर बाजार में परोसा जा रहा है जिससे कुछेक प्रतिशत लोग प्रभावित होते ही हैं और बाजार रंग दिखाने लगता है। अनेक प्रकार की सुविधाओं और प्रलोभनों को विज्ञापित किया जाता है और भीड़ जमा हो जाती है। ऐसी भीड़ में ऐसे लोग भी होते हैं जिनके पास प्रचुर पैसे हैं मौज–मस्ती करने या कराने की खातिर। जो चीज नई और अजीब दिखती है, खरीद लेते हैं ताकि समाज में संपन्नता की छवि बनी रहे।

भूमंडलीकृत आर्थिक व्यवस्था को ज्यों–त्यों विश्वव्यापी स्वीकृति और मान्यता मिल रही है, त्यों–त्यों उपभोक्तावादी परंपराएँ नई जगह और जमीन ढूँढ रही हैं जिसके कारण नए बाजार छोटे–छोटे शहरों से कस्बों तक पाँव पसार रहे हैं

और सँगसँग बाजारीकरण के हथकंडे मजबूत हो रहे हैं।

यह सच है कि कोरोना काल के आकस्मिक आगमन से विश्व का जन–समाज और बाजार स्तंभित और अचंभित हो गया था, लेकिन आगे बढ़ने की विवशताओं ने नए मार्ग निकाले, कोविड–19 से बचने के लिए वैक्सीन की खोज हुई और चिकित्सा–विज्ञान ने सफलता भी हासिल की जिसमें हमारा देश बहुत आगे है। अब तो जनगण में नवजागरण का संचार हुआ है तथा नए सिरे से बाजार खुलने लगे। होशियारी के साथ दो गज की दूरी और मास्क का ख्याल रखते हुए। फिर सच का जामा पहनाकर फरेबी व्यवस्था को बाजार में परोसने की होड़ चलने लगी है और बिग–बाज़ार, सिटी–सेंटर तथा मेगामार्ट या वेगामार्ट की धूम मचने लगी है, भीड़ जुटने लगी है और पूर्ववत् स्थिति और रौनक दिखने लगी है आहिस्ता–आहिस्ता। लेकिन ध्यान देने की बात यह भी है कि वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण या आर्थिक उदारीकरण की अवधारणा जिस गति से मजबूत हो रही है, पाँव पसार रही है, उसी गति से या उससे थोड़ा ज्यादा या कम गति में अंधराष्ट्रवादी रुझान या धारणा भी पल्लवित और पुष्पित हो रही है सारे संसार में जिसकी चर्चा नहीं के बराबर हो रही है। स्थानीय मूल्यों और मान्यताओं के रख–रखाव की ओर भी ज्यादा लोगों का चिंतन–मनन बढ़ रहा है, क्योंकि वैश्विक संस्कृति के चक्कर में अपनी मौलिक मान्यताओं और परंपराओं को तवज्जो न देने के कारण विरासतीय या सांस्कृतिक पहचान मिटने का डर भी अंकुरित हो रहा है। केवल केक काटकर और दीए फूँककर जन्मदिवस मनाने की प्रथा को सर्वमान्य ठहराने से विभिन्न देश, जाति, संप्रदाय में विद्यमान परंपरा की अवहेलना हो रही है, जो किसी भी कीमत पर अच्छी बात नहीं है। हमारे देश के छोटे–बड़े कस्बे जनजातीय गाँवों में ही नहीं विश्व के बड़े–बड़े देश या शहरों में भी राष्ट्रवादी अवधारणाओं के महत्व और अर्थ पर तवज्जो दी जा रही है, जिससे स्वभावतः वैश्वीकरण की राह में संकटों के बादल छाने लगे हैं।

दुनिया के हरेक भाग में जाति, धर्म, नस्ल, असुरक्षा–बोध के नाम पर हिंसा और अराजकता होती रहती है और उग्र रूप भी लेती है जो निश्चय ही वैश्वीकरण के लिए शुभ संकेत नहीं है। कई जगहों में तो वैश्वीकरण के प्रहार से नाखुश लोग ही विरोध दिखाने के लिए नई–नई बाधाएँ और समस्याएँ खड़ी करते हैं।

हमारे देश में भी वैश्वीकरण के प्रसार के बल पर खड़े बाजारों के विरोध में आंदोलन हुए हैं, तोड़फोड़ की घटनाएँ भी हुई हैं। लोगों को यह विश्वास होने लगा है कि लूडो के खेल की सीढ़ी और साँप की स्थितियाँ आ गई हैं। बाज़ार एक तरफ कुछेक युवक–युवतियों को कम तनख्वाह में काम में लगाकर शोषण कर रहा है तो दूसरी तरफ विज्ञापन के नाम पर झूठ परोसने में उनको तैनात कर रहा है। उपभोक्तावादी नई बाज़ार व्यवस्था में पाश्चात्य तथा अत्यधिक फैशन के फंदे में किशोर–किशोरियाँ फँस रही हैं, उन्हें अपने संप्रदाय के रीति–रिवाज और परंपराओं से कोई वास्ता नहीं है। घर–परिवार या समाज में युवा पीढ़ी और बुजुर्गों के बीच मतभेद की खाई गहरी होती जा रही है। इससे स्वभावतः सामाजिक तथा पारिवारिक संबंधों में रिक्तता पनप रही है जो अव्यवस्था खड़ी करने के लिए पर्याप्त है। कई युवक–युवतियाँ उभरते बाज़ार के विज्ञापन के चक्कर में मीडिया, मैसेज तथा मॉडल का शिकार भी बन रहे हैं जिससे स्वभावतः सामाजिक रीति–रिवाजों में खलल की सृष्टि हो रही है। इस आशय की शिकायतें जनजातीय इलाकों के लोगों में प्रचुर हैं। आज के बच्चे–बच्चियाँ केवल नई फैशन–प्रणाली में जीना पसंद करते हैं और चली आ रही पुरानी परंपरा का खुलकर विरोध करते हैं। किशोर–किशोरियों के ऐसे बर्ताव से धार्मिक आस्थाओं और पारंपरिक व्यावस्थाओं का सम्मान घट रहा है जो वैश्वीकरण के लिए प्रतिकूल ही है।

हम सभी अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे देश के सभी प्रांतों में हर जगह खेतीबाड़ी वाणिज्य–व्यापार, उद्योग–धंधा समरूप नहीं हैं। इसलिए वैश्वीकरण का विस्तार कर पाना सरल

नहीं है, सहज भी नहीं है। अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियाँ खड़ी हो सकती हैं, कई जगहों में हुई भी हैं, बड़े–बड़े कलाकार, खिलाड़ी और चर्चित व्यक्तित्व की तस्वीरों और बातों के जरिए या विज्ञापनों द्वारा प्रलोभन के भरोसे क्रेताओं को फँसाने का काम सफल नहीं हो पा रहा है।

ऐसे ही कई कारणों से वैश्वीकरण के बल पर पसरते बाज़ार संकट में भी हैं। कई देश या इलाके वैश्वीकरण और संरक्षणवादी आंदोलन के बीच सैंडविच भी बने हैं। एक तरफ वैश्वीकरण का मकसद मुनाफा कमाना या लूटखसोट करना है तो दूसरी तरफ संरक्षणवाद संगठित हिंसा, भेदभाव और अराजकता को जन्म देता है। तो यह लाजिमी है कि बाज़ारीकरण के ऐसे माहौल में बाज़ार में लूट और घर–परिवार में फूट के परिदृश्य नज़र आ रहे हैं। लोगों में यह धारणा समाहित हो रही है कि मुक्त बाज़ार के खुलने से निचले तबके के लोगों के जीवन में आर्थिक संकट छा जाएगा।

मौजूदा सरकार के कृषि कानून को मुक्त बाज़ार के पक्ष में लाए जाने के कारणों को बताकर दिल्ली बॉडरों में तथाकथित किसान आंदोलन हो रहे हैं जिससे आंदोलन के एक सौ दिन में साढ़े तीन लाख करोड़ रुपयों का नुकसान हो गया। बिचौलिए और आढ़तियों की मुनाफाखोरी को बरकरार रखने के उद्देश्य से आंदोलन को उग्र बनाया गया और एक दर्जन बार हुई वार्ता विफल हो गई। वैश्वीकरण का नाम लेकर किसानों के हित की बात बताकर हो रहे इस आंदोलन के पीछे छुपे मनसूबे बहुत गहरे, देशविरोधी और विकराल हैं जिनसे सरकार वाकिफ भी हो गई है। यदि वैश्वीकरण की अवधारणा के अनुरूप बाज़ारों का प्रचार–प्रसार पारदर्शी होगा और उपभोक्ताओं को वस्तुएँ यथोचित मूल्य में मुहैया कराई जाएँगी तो निश्चय ही मुक्त बाज़ार का विरोध नहीं होगा और वैश्वीकरण के संकट हटते जाएँगे। यदि किसान समुदाय ज्यादा मुनाफे में उत्पाद बेच पाएँगे, कही भी ले जाकर और बीच में बिचौलिए या आढ़तिए हिस्सा नहीं निकल पाएँगे। तो निश्चय ही किसानों और उपभोक्ताओं को फायदा होगा और दोनों पक्ष उपकृत होंगे। अच्छी बात यह होगी कि आंदोलन जीवियों का बाज़ार बंद हो जाएगा और उनकी राजनीति अर्थहीन हो जाएगी।

– आमा खडकालय, दुर्गागढ़ी, प्रधाननगर, दार्जीलिंग–734003

❑❑❑

दक्षिण प्रांतों में राजभाषा हिंदी का वर्तमान

डॉ. के. श्रीलता विष्णु

हिंदी के संबंध में कहते समय राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्कभाषा, राज्यभाषा जैसे बहुत सारे शब्दों का व्यवहार किया जाता है। इस कारण हिंदी की मुख्य भूमिका के विषय में कहीं–कहीं कुछ भ्रम भी होने लगा है। वस्तुतः ये सारे शब्द हिंदी के लिए अपने–अपने स्थानों में सही हैं और प्रत्येक का अलग–अलग महत्व भी है, किंतु हिदी की मुख्य भूमिका अब प्रशासनिक भाषा या राजभाषा के रूप में ही है।

भारत के संविधान के अनुसार उसके पारित होने के पंद्रह साल बाद अर्थात् सन् 1965 से हिंदी को समग्र भारत की राजभाषा का पद मिल जाना चाहिए था, किंतु तब तक हिंदी के प्रतिकूल दो बातें हुईं– एक यह कि एकाध हिंदीतर राज्यों के अनुचित राजनीतिक दबाव में आकर अंग्रेज़ी को सह–राजभाषा के रूप में अनिर्दिष्ट काल तक जारी रखने का निर्णय लिया गया और दूसरी बात यह हुई कि राष्ट्र के विविध राज्यों में वहाँ की प्रांतीय भाषाओं को ही हिंदी के बदले प्रशासनिक भाषाएँ मान ली गईं। वहाँ वालों के लिए हिंदी–अंग्रेज़ी के साथ मात्र सह–संपर्क भाषा रह गई। ऐसे राज्यों में अब राजभाषा या प्रशासन की भाषा प्रांतीय भाषाएँ ही मानी जाती हैं और हिंदी केंद्र सरकार एवं अन्यान्य राज्यों के बीच पत्राचार के लिए अंग्रेज़ी के विकल्प में स्वीकृत एक भाषा मात्र मानी जाती है। उस बात में भी हिंदीतर राज्यों में वस्तुतः हिंदी की स्थिति सुरक्षित नहीं है, क्योंकि सह–संपर्कभाषा के रूप में अंग्रेज़ी से काम चलाया तो जा सकता है। ऐसी स्थिति में हिंदी को कौन पूछे? वास्तव में हिंदी प्रांतों की– विशेषकर 'ग' प्रदेशों की सरकारों के सारे काम–काज अब भी अंग्रेज़ी में ही चलते हैं। केंद्र सरकार से पत्र–व्यवहार की बातों के लिए अंग्रेज़ी को प्रयुक्त करने की छूट तो है ही, क्योंकि वह सह–संपर्कभाषा है। उसकी आड़ में राज्यभाषाओं का स्थान भी अंग्रेज़ी ने ग्रहण कर लिया है। अर्थात् राज्यभाषाएँ केवल कहने के लिए इन राज्य सरकारों की प्रशासनिक भाषाएँ बनी हैं, अंग्रेज़ी को वे हटा नहीं पाई हैं। थोड़े में हिंदीतर प्रांतों में आज भी अंग्रेज़ी का ही साम्राज्य बना हुआ है। वहाँ किसी भी स्तर पर हिंदी के प्रयोग की बात नहीं चलती।

केंद्र सरकार के लिए हिंदी, राजभाषा एवं सह–संपर्कभाषा दोनों रूपों में है। हिंदी–प्रांतों के लिए तो इन दो रूपों के साथ हिंदी राज्यभाषा अथवा मातृभाषा भी है।

केंद्र सरकार के कार्यालयों में हिंदी के प्रगामी प्रयोग पर आजकल काफी ज़ोर दिया जाता है। हिंदी में प्रशिक्षण देने, परीक्षाएँ चलाने और पुरस्कार देकर प्रोत्साहित करने की व्यापक चेष्टा केंद्र सरकार द्वारा की जा रही है। इस कारण इन कार्यालयों में राजभाषा के रूप में हिंदी की स्थिति धीरे–धीरे सुधरती जा रही है, किंतु जैसा कि ऊपर कहा गया, समग्र भारत की हिंदी–विषयक वर्तमान स्थिति यह नहीं है। हिंदीतर प्रांतों में राजभाषा के

रूप में हो या सह–संपर्कभाषा के रूप में, हिंदी के पूर्वोक्त स्थिति को देखते हुए इस दिशा में और भी कदम उठाने हैं।

पता चला है कि भारत सरकार के प्रत्येक कार्यालय में हिंदी के प्रयोग की स्थिति की समीक्षा करने के लिए और उचित निर्णय लेने के लिए राजभाषा–कार्यान्वयन–समितियाँ गठित की गई हैं और उनकी तिमाही बैठकें भी प्रायः आयोजित होती हैं। कार्यालय का अध्यक्ष इस समिति का भी अध्यक्ष होता है और सभी उच्च अधिकारी इसके सदस्य हैं। ये बैठकें तभी उपादेय होंगी जब सभी सदस्य अपने अधीन में हुए या हो रहे हिंदी विषयक काम की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करके उससे संबंधित समस्याओं पर चर्चा करे, परंतु सुनने में आया है कि ये बैठकें केवल नेमीतौर पर की जाती हैं और सदस्यों के सामने कोई समस्या ही प्रस्तुत नहीं होती। वास्तव में प्रत्येक सदस्य को अपने अधीन अनुभागों के हिंदी प्रयोग से संबंधित स्थिति प्रस्तुत करके उसमें त्वरा लाने के लिए अपेक्षित सुझाव देने को बाध्य करना चाहिए। तभी वहाँ उपयोगी चर्चा हो सकती है। आजकल हिंदी अधिकारी जो कि सापेक्षिक दृष्टि से कनिष्ठ अधिकारी होता है इन बैठकों का केंद्र रहता है। वही बैठकों का आयोजन करता है, उसके काम के विषय में या समस्याओं के विषय में ही चर्चा होती है। मानो ये बैठकें अकेले उसके लिए ही आयोजित की जाती हों। यह हालत बदलने चाहिए।

कुछ सुझाव : एक सुझाव यह रखा जा सकता है कि हिंदीतर या 'ग' क्षेत्र में स्थित केंद्र सरकार के अधिसूचित कार्यालयों (अर्थात् जहाँ 80% से ज्यादा कर्मचारी हिंदी का कार्यसाधक ज्ञान रखते हैं।) के प्राज्ञ परीक्षा की योग्यता प्राप्त कर्मचारियों को हिंदी क्षेत्र या 'क' क्षेत्र में स्थित उन्हीं के कार्यालयों में अथवा ऐसे ही अन्य कार्यालयों में या किन्ही केंद्रीय संस्थाओं में कम से कम छह महीने कार्य करने या प्रशिक्षित होने का अवसर दिया जाए। (पर यह अनिवार्य भी न किया जाए। कर्मचारियों की ओर से विरोध करने की कोई नौबत न होने पावे।) ऐसा करने से उनकी हिंदी सुधर जाएगी और साथ–साथ उससे कार्यालयीन काम–काज हिंदी में करने की उनकी हिचक भी दूर हो जाएगी।

इस दिशा में भारत सरकार के विविध मंत्रालयों द्वारा जो भी कार्य किए जा रहे हैं वे जारी रहें। वस्तुतः राजभाषा के रूप में हो या संपर्कभाषा के रूप में हिंदी के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा सरकारी कार्यालयों में अंग्रेज़ी का अनधिकार प्रभुत्व है। जब तक अंग्रेजी की इस जकड़ से हम अपने गले को न छुड़ाएँगे तब तक हिंदी सच्चे अर्थों में राजभाषा भी न बनेगी, संपर्कभाषा भी न बनेगी। अतः इस विषय में हम उदासीन नहीं रह सकते।

यहाँ भारत सरकार को परोक्ष–विधि से काम लेना चाहिए। वह राज्य सरकारों पर इस बात पर ज़ोर डाल सकती है कि राज्यों में प्रशासन के कार्यों के लिए राज्य भाषाओं को शीघ्र से शीघ्र पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया जाए। लोकतंत्र और समाजवाद को चरितार्थ करने के लिए यह कदम अनिवार्य है। इस दिशा में राज्य सरकारों को प्रशिक्षण आदि के लिए आवश्यक कुछ अनुदान भी केंद्र सरकार दे सकती है। ऐसा करने से राज्य सरकारों को प्रोत्साहन देने का काम भी हो जाएगा और वैसे राजनीतिकों द्वारा हिंदी के विरुद्ध किए जानेवाले कुछ अनुदान और असत्य आक्षेपों का (कि प्रोत्साहन केवल हिंदी को ही दिया जा रहा है या हिंदी का विकास राज्य भाषाओं के विकास को अवरुद्ध करेगा आदि) स्वतः निराकरण भी हो जाएगा। जैसे–जैसे राज्य भाषाएँ हिंदीतर राज्यों की प्रशासनिक भाषाएँ बनेंगी वैसे–वैसे अंग्रेज़ी की पकड़ ढीली पड़ जाएगी। ऐसा होने पर शीघ्र ही इन राज्यों में हिंदी संपर्कभाषा का पद लेगी और धीरे–धीरे उभरकर सामने आ जाएगी।

इसी ढंग से उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी अथवा राज्य भाषाओं को प्रतिष्ठित कराने की दिशा में भी केंद्र सरकार राज्य सरकारों पर ज़ोर डाल सकती है। अंग्रेज़ी विश्वभाषा है, उसके अध्ययन–अध्यापन का कार्य चलता रहे किंतु सारे विषयों की शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी का

जारी रहना कतिपय वांछनीय नहीं है। जब तक इस बात में हम परिवर्तन नहीं करा पाते तब तक हमारी दासता की मनोवृत्ति दूर नहीं होती, इस देश में स्वतंत्र चिंतन का विकास नहीं होता।

भारत सरकार ने राजभाषा विभाग के वित्तीय प्रावधान में विभाग की विभिन्न राजभाषाई योजनाओं के सुचारु कार्यान्वयन के लिए 12वीं पंचवर्षीय योजना (2012–13 से 2016–17) में 420675 करोड़ रुपए की राशि आबंटित की है वर्ष 2012–13 में 82265 करोड़ रुपए प्रस्तावित संशोधित अनुमान वर्ष 2013–14 में 83120 करोड़ रुपए तथा वर्ष 2014–15 में 84150 करोड़ रुपए वर्ष 2015–16 में 86160 करोड़ रुपए की राशि आबंटित है। इसके अतिरिक्त राजभाषा विभाग के लिए नॉन–प्लान में भी प्रतिवर्ष राशि आबंटित की जाती है। वर्तमान वित्त वर्ष 2012–13 में नॉन प्लान के अंतर्गत 40.61 करोड़ रुपए की राशि आबंटित है। पहले की योजनाओं में भी इसी तरह सैकड़ों करोड़ रुपए प्रशासनिक भाषा के लिए आबंटित किए गए थे। उनमें कई करोड़ रुपए खर्च भी किए गए थे।

विकास की वांछित दिशा

गांधीजी का दृष्टिकोण : यह बात हमें बराबर ध्यान में रखनी है कि हिंदी की वास्तविक भूमिका मूलतः राष्ट्रभाषा के रूप में है। हमें यह बात द्विधाहीन भाषा में जोर देकर करनी भी चाहिए। हमें बताना होगा कि अपने लोकतंत्र एवं समाजवादी स्वप्नों के साक्षात्कार के लिए ही नहीं अपितु राष्ट्रसंस्कृति के साथ राष्ट्रीय अभिमान तथा राष्ट्रीय एकता की परिरक्षा के लिए भी हिंदी को अखिल भारत की प्रतिनिधि भाषा के रूप में स्वीकार करना होगा। हमें बताना होगा कि राष्ट्रपिता ने भारत के उन्नयन के सारे पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के बाद हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में चुना था। बापू ने स्वतंत्रता संग्राम के आरंभ में ही स्पष्ट देखा था कि भारत की गुलामी मुख्यतः तीन प्रकार की है– राजनीतिक, आर्थिक और मानसिक। इन तीनों प्रकारों की दासताओं से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने मुख्यतः तीन प्रकार के कार्यक्रम भी चलाए थे। सत्याग्रह, असहयोग इत्यादि का उद्देश्य राजनीतिक गुलामी का अंत करना था, खादी, स्वदेशी व्रत, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार इत्यादि आर्थिक गुलामी से निस्तार पाने के उद्देश्य से चलाए गए थे। वैसे हरिजनोद्धार और राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार मानसिक स्वाधीनता की प्राप्ति को दृष्टि में रखकर चलाए गए थे। अतः जब तक हम हिंदी को पूर्णतः राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार न कर पाएँगे तब तक मानसिक दासता से छुटकारा भी न प्राप्त कर पाएँगे। इस कारण हमें शीघ्र ही हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद देना होगा और इस दृष्टि से हमें अखिल भारत की संस्कृति की जीवंत वाहिका के रूप में उसे विकसित करना भी होगा।

प्रधानमंत्री जी का मंतव्य : हमारे अंतदृष्टि संपन्न प्रधानमंत्री जी ने वर्ष 2015 जुलाई में मध्य एशिया के रूस सहित छह राष्ट्रों का दौरा किया था और वहाँ के राष्ट्र नायकों के साथ हमारे राष्ट्र के साझे हितों पर कतिपय द्विपक्षीय अहम् समझौतों पर हस्ताक्षर भी किए। उनकी यात्रा का प्रथम चरण उजबेस्किस्तान में रहा था। वहाँ के भारत–मूल के नागरिकों, विविध विश्वविद्यालयों के हिंदी के छात्रों और भारत – विषयक अनुसंधान करनेवाले शोधार्थियों के सामने उन्होंने काफ़ी महत्वपूर्ण भाषण भी दिया था। उनके भाषण में उन्होंने भाषा–विषयक कई मुद्दों की चर्चा की थी। तब उन्होंने कहा था कि विदेशों में रहनेवाले भारतीयों के बीच आपसी सद्भाव, मित्रता एवं भाईचारे को बढ़ावा देनेवाला तत्व एक ही भाषा का व्यवहार करना है उन्होंने बताया भाषा, संस्कृति की वाहिका है और उसकी भूमिका व्यक्तित्व के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण है। वास्तव में राष्ट्रभाषा राष्ट्र शब्द का प्रयोग किए बिना ही उस भाषण में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के महत्वपूर्ण योगदान को ही रेखांकित किया है। वस्तुतः राष्ट्रभाषा देशप्रेम और राष्ट्र गौरव को बढ़ानेवाला तत्व है, जबकि राजभाषा या प्रशासन हेतु पढ़ी जानेवाली भाषा प्रयोजनमूलक ही होती है। हमें उस भाषा में कार्यसाधक ज्ञान मात्र ही प्राप्त होता है। वह न तो देश–प्रेम को उजागर करता है और न संस्कृति के द्वारा व्यक्तित्व का विकास ही करता है। सच्चाई यही है कि राष्ट्रभाषा

के रूप में हिंदी के पठन–पाठन से हमारे मन में राष्ट्राभिमान ही जागृत नहीं होता बल्कि हमारी पैतृक संस्कृति के प्रति ममता और आत्मीयता भी विकसित होती है। इसलिए उसको बोलचाल के लिए पढ़ना बहुत ही सीमित क्षेत्र में ही उपादेय होता है उसके सौंदर्य और संस्कृति को आत्मसात् करने के लिए राष्ट्रभाषा के रूप में ही उसे पढ़ना चाहिए। सचमुच भाषा के प्रति तत्परता और प्रेम के होने से ही भाषा की पढ़ाई भी हो सकती है। इस सत्य से आँखें मूँदकर हिंदी के लिए कितना व्यय किया जाता है, वह व्यर्थ ही साबित होगा। अतः हमारे प्रधानमंत्री को उपर्युक्त सारे बिंदुओं पर हिंदी के विकास की पहल करनी चाहिए। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पिछली शताब्दी के द्वितीय दशक के अंत और तृतीय दशक के शुरू के सालों में जब साम्यवादी सोवियत संघ रूपायित हुआ तो उसमें सम्मिलित अनेक राज्यों में विविध भाषाएँ चल रही थीं। उनमें मानसिक एकता उत्पन्न करने के लिए एक राष्ट्रभाषा गृहीत नहीं हुई थी। फलस्वरूप उसी शताब्दी के अंत के पहले ही सोवियत संघ बिखर गया। राष्ट्रभाषा का महत्व यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

कर्तव्य–कर्म : इस दिशा में हमें कई कार्य करने हैं। एक महत्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि हम हिंदीतर प्रांतीय साहित्यिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों को हिंदी में लाने का व्यापक परिश्रम अविलंब शुरू करें। उससे एक ओर हिंदी अखिल भारत का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हो जाएगी और अन्य भाषा–भाषी बुद्धिजीवियों और साहित्यिकों की स्वीकृति और सद्भावना हिंदी के साथ रहेगी जिसका प्रभाव बड़ा अच्छा निकलेगा। यदि त्रिभाषा–सूत्र सब कहीं लागू किया जाता तो यह कार्य सरलता से संपन्न हो जाता। क्योंकि हिंदी प्रदेशों में भी हिंदीतर प्रदेशों की भाषाओं के अच्छे जानकार हो जाते और उनसे प्रांतीय भाषाओं से हिंदी में अनुवाद का कार्य कुछ वर्षों के भीतर प्रभूत परिमाण में संपन्न हो जाता, किंतु अब हिंदी प्रदेशों में त्रिभाषा–सूत्र का स्वीकृत कराना संभव नहीं दीखता। अंतः यह कार्य हिंदी या हिंदीतर प्रांतों के हिंदी विद्वानों द्वारा ही संपन्न कराया जाना चाहिए। संप्रति अवस्था यह है कि हिंदी की श्रेष्ठ कृतियाँ अन्य भाषाओं में थोड़ी–बहुत अनूदित होती ही रहती हैं, किंतु इन भाषाओं में रचित श्रेष्ठ कृतियाँ हिंदी में बहुत कम रूपांतरित की जाती हैं। इसका यही कारण है कि हिंदीतर–लेखकों को इस विषय में आवश्यक सुविधा या प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। हिंदीतर प्रांतों में हिंदी की पुस्तकों के प्रकाशन और विक्रय की कठिनाई ही सबसे बड़ी बाधा है। उनकी कृतियों के प्रकाशन के लिए हिंदी क्षेत्र के प्रकाशकों का सहयोग परम आवश्यक है जिसे प्राप्त करना बड़ा कठिन भी होता है।

ऐसी अवस्था में यह उचित होगा की भारत सरकार द्वारा प्रत्येक हिंदीतर भाषा–भाषी राज्य में उपरोक्त ढंग की (उच्च साहित्यिक और वैज्ञानिक) चुनी हुई श्रेष्ठ कृतियों की सूची तैयार करने और वहाँ के वरिष्ठ हिंदी विद्वानों से अनुवाद कराने के उद्देश्य से एक–एक हिंदी अकादमी या अनुवाद–केंद्र स्थापित किया जाए जिसमें उन प्रांतों के अनुभवी हिंदी विद्वानों की सेवा भी प्राप्त कराई जाए। ऐसे केंद्रों का काम पाँच या सात वर्षों के लिए योजनाबद्ध भी किया जाए।

इसके अलावा हिंदीतर प्रांतों के लेखकों द्वारा हिंदी में मौलिक या अनूदित रूप से रचित ग्रंथों की योग्यता के निर्धारण और प्रकाशन का भार केंद्रीय प्रकाशन विभाग को सौंपा भी जाना चाहिए।

हिंदी की भूमिका को दृढ़तर करने के लिए और एक सुझाव यह है कि हिंदीतर प्रांतों और हिंदी प्रांतों के स्कूलों तथा कॉलेजों के अध्यापकों को दो–दो सालों के लिए डेप्यूटेशन व्यवस्था में अन्यान्य प्रांतों में जाकर काम करने की सुविधा बनाई जाए। प्रति साल समग्र देश से कम–से–कम ऐसे पाँच हजार अध्यापकों के आदान–प्रदान की व्यवस्था की जाए। इसके लिए प्रांतीय सरकारों से परामर्श या सलाह–मशविरा करके शिक्षा के नियमों में आवश्यक प्रावधान ही किया जाए। राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा हिंदी के प्रति व्यापक सद्भावना जगाने के साथ–साथ राष्ट्रीय एकता की साधना में नया आयाम जोड़ने की दिशा में भी यह कदम

बड़ा कारगर सिद्ध होगा। देश की शिक्षा पद्धति में एकरूपता लाने की दृष्टि से भी यह कार्य बड़ा उपादेय होगा। केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय राज्य सरकारों से मिलकर इस कार्य में उपयुक्त योजना बनाए।

अंग्रेज़ी माध्यमवाली वर्तमान शिक्षा–प्रणाली देश में दो प्रकार के नागरिकों की सृष्टि करके हमारे लोकतंत्र को पूर्णतः चरितार्थ होने में बाधा उपस्थित किए हुए है। शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी को अपने उचित स्थान पर बिठाने पर, अखिल भारतीय स्तर की उच्च परीक्षाओं में हिंदी या राज्य भाषाओं का माध्यम स्वीकृत हो जाएगा। थोड़े में, हिंदी के प्रति विरोध या विसंवाद के लिए कोई भी रास्ता शेष नहीं रहेगा। इस रीति से हम प्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय भाषाओं का पक्ष लेकर अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी के लिए भी अनुकूल परिस्थिति तैयार कर सकते हैं।

– 3 ए 4, निकुंजम हेरिटेज पल्लीमुक्कु, पेट्टा. पि. ओ., तिरुवनंतपुरम, केरल–695014

❑❑❑

अवधी भाषा के लोकगीतों में समाज और संस्कृति

डॉ. अमिता तिवारी

अवधी भाषा अत्यंत प्राचीन भाषा है। पूर्वी हिंदी बोलियों में आनेवाली यह भाषा लखनऊ, अयोध्या, प्रयागराज, फतेहपुर, कानपुर, सुल्तानपुर, बरेली आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। इस बोली का प्रमुख केंद्र अयोध्या है। 'अवध' शब्द अयोध्या शब्द का ही विकसित रूप है। यह बोली फैजाबाद, प्रयागराज, लखनऊ, मिर्जापुर, सुल्तानपुर, रायबरेली, गोंडा, बस्ती, बहराइच, बाराबंकी, प्रतापगढ़ आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। अवधी भाषा में साहित्य तथा लोकसाहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना रामचरितमानस अवधी भाषा में ही है। तुलसीदास, जायसी, नूरमुहम्मद, मुल्लाद्उद, कुतुबनुमा, उस्मान आदि इसके प्रसिद्ध कवि हैं।

लोकसाहित्य और लोकगीत हमारी संस्कृति की महत्वपूर्ण धरोहर हैं। अवधी भाषा में लोकगीतों की अनूठी परंपरा है। उत्तर भारत के समाज की मानसिकता, उनका रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, समाज की सोच अनेक धार्मिक पौराणिक प्रसंग सब हमें लोकगीतों में दिखाई देते हैं। लोकगीत वास्तविक जीवन प्रक्रिया से निकले गीत होते हैं। जिनमें जीवन का वास्तविक भोगा हुआ यथार्थ होता है। मनुष्य का वास्तविक अनुभव होता है। जिस जीवन को हम सहजता से जीते हैं वह बिना लाग लपेट के हमारे गीतों में दिखाई देता है। इन गीतों में बनावट या कृत्रिमता नहीं होती। वह सहज भाव से व्यक्त किया गया अनुभव होता है। लोकगीत हमारे जीवन में रचे–बसे अनुभव के आधार पर लिखे जाते हैं। लोकगीतों के रचनाकारों का कोई प्रमाणिक आधार नहीं है। ये श्रुति के आधार पर विकसित होते हैं। सभी गीत एक–दूसरे से सुनकर ही लिखे जाते रहे हैं। जब कोई गीत मेरी माँ गाती है तो वे कहती हैं कि ये गीत मेरी दादी गाती थीं अर्थात् लोकगीत पीढ़ी–दर–पीढ़ी श्रुति के माध्यम से जीवित रहते हैं। इन गीतों में न तो छंदों, न अलंकारों की आवश्यकता होती है। ये स्वछंद प्रवाह से कल–कल करती धारा के समान स्वयं विकसित होते हैं। डॉ आशा जोशी के अनुसार "लोकगीतों को जनसाधारण की लिखित काव्य रचना कहा जा सकता है। गीतों का जन्म मानव के साथ– साथ हुआ। लोकगीत जीवन के सुख– दुख, हास–विलास, अश्रु–पीड़ा, यानी कि प्रत्येक क्षण को पूर्ण सच्चाई से अभिव्यक्त करता है। सृष्टि के आरंभ से ही मानव अपनी उलझनों को गीतसंगीत की ढाल से सुलझाता चला आया है। चिलचिलाती धूप में खेत जोतता किसान, पौध रोपती कृषक ललना, पशुओं को चराता चरवाहा, घास काटती घसियारन या घर के ढेर से क्रियाकलापों में उलझी गृहवधू – सभी के कार्यों का परिश्रमिक संगीत का संसार ऐसा मधुर संसार है जहाँ आकर प्रत्येक पीड़ा, प्रत्येक दर्द विश्राम ले लेता है।"[1]

अवधी भाषा के लोकगीतों में हमें उत्तर प्रदेश का संपूर्ण लोकजीवन दिखाई देता है। अवधी लोकगीत राममय होते हैं। अधिकांश गीत राम और सीता को संबोधित करके गाए जाते हैं। सभी गीतों में देवी–देवताओं का आह्वान किया जाता है।

प्रकृति की आराधना की जाती है अर्थात् पूरी प्रकृति को जीवन से जोड़कर इन गीतों में देखा गया है।

लोकगीत जीवन के प्रत्येक अवसर पर गाए जाते हैं जैसे बच्चे के जन्म पर, मुंडन पर, जनेऊ पर और विवाह के अवसर पर। इसके अतिरिक्त कजरी, बिरहा, निरवाही आदि गीत भी सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करते हैं। उत्तर भारत में किसी भी कार्य के प्रारंभ में देवी गीत गाए जाते हैं। इन गीतों में देवी माँ से प्रार्थना की जाती है कि वे आएँ और घर में विराजमान हों और कार्य के निर्विघ्न संपन्न होने का आशीर्वाद दें –

सुमिरौ मैं माता सुमिरौ भवानी सुमिरौ शीतला मईया नाऊ
तोहर भरोसे मईया मैं जग्य रोप्यौ
मोरी जग्य पूरन होई।

अवधी भाषा में शादी के अवसर पर निमंत्रण गीत गाया जाता है। यह गीत शुभ माना जाता है। भारतीय समाज में भाई–बहन का रिश्ता बड़ा अनूठा होता है। जिसमें प्यार और तकरार है।रूठना और मनाना है। एक दूसरे पर क्रोध करना है पर एक के बिना दूसरा अधूरा भी रहता है। अवधी भाषा के एक गीत में इसी प्रकार का भाव है। भाई के अनुचित व्यवहार के कारण बहन रूठ जाती है और अपने बेटे की शादी का निमंत्रण भाई को नहीं देती। बहन के घर में यदि कोई आयोजन हो और भाई ना आएँ तो बहन को अच्छा नहीं लगता। जब तक भाई नहीं आता तब–तक उसकी निगाहें दरवाजे पर ही टिकी रहती हैं। इस गीत में भी इसी प्रकार का भाव है। बहन–भाई को अपने बेटे की शादी में आमंत्रित नहीं करती पर जब सब मेहमान आ जाते हैं और उसका भाई नहीं आता तो उसका मन मसोसता है, उत्सव अधूरा लगता है, उल्लास फीका पड़ जाता है, रंग बेरंग दिखाई देते हैं। वह अपने मन का दुख अपनी सास से कहती है। सास भाई को दुबारा निमंत्रण भिजवाती है। जब भाई आ जाता है तब बहन प्रसन्न हो जाती है। गीत इस प्रकार है–

अरे–अरे कारी कोईलिया अंगने मोरे आवउहु
रे कोईलरि आजु मोरे पहिला बियाहवा
नेउता दै आवाउहु रे।
ये कोईलरि आजु मोरे पहिला बियाहवा
नेउता दैई आवउहु रे।
अरगन नेउतिउ परगन अरु ननिआउर
रे कोईलरि एक नाही नेउतिउ बिरन भईया
जिनसे मैं रूठेउ
रे कोईलरि एक नाही नेउतिउ बिरन भईया
जिनसे मैं रूठेउ
आई गए अरगन परगन अरु ननिआउर
रे सासू एक नाही आए बिरन भईया
जिनसे मैं रूठेउ
सासू भेटय आपन भईया ननद बिरन भईया
रे सासू वजरा कै छतिया हमारी
तऊ केहि उठि भेटऊ

अवधी के लोकगीतों में एक लोकगीत है 'कजरी'। यह लोकगीत अधिकांश बोलियों में मिलता है। यह सावन में नागपंचमी के अवसर पर गाया जाता है। भारतीय समाज में सावन का महीना बहुत महत्वपूर्ण होता है। सावन को मनभावन भी कहा जाता है। यह मास हर्ष उल्लास का माह होता है। एक ओर जहाँ प्रकृति अपनी हरियाली से हमारा मन मोह लेती है वहीं दूसरी ओर इस मास में आने वाले त्योहार हमारे मन में असीम उल्लास भर देते हैं। सावन का नागपंचमी का त्योहार अवध प्रांत में गुड़िया के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस त्योहार में सभी लड़कियाँ ससुराल से मायके आती हैं और बड़े हर्ष उल्लास के साथ नागपंचमी का त्योहार मनाती हैं।

उत्तर भारत में नागपंचमी को गुड़िया भी कहा जाता है। नागपंचमी के अवसर पर पहले लड़कियाँ गुड़िया खेलने जाती हैं, फिर झूला झूलती हैं। झूला झूलते समय कजरी गाती हैं। कजरी गीत बड़ा मधुर और मोहक होता है। इसमें कहीं संयोग श्रृंगार का वर्णन होता तो कहीं वियोग श्रृंगार का। कहीं किसी विरहिणी नायिका की विरह वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है तो कहीं प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण। उमड़ घुमड़ कर बादलों का गरजना, कोयल का कुहुकना, नदियों का उमड़ना, बागों का हरा–भरा होना सब इन गीतों में दिखाई देता है।

फुलवा फूलि रहे बागन माँ सावन हरी–हरी पत्तियाँ ना
सोने की थारी माँ जेवना परोसयो
जेवना जेइ रहे बागन मा सावन हरी–हरी पत्तियाँ ना

अवधी भाषा के कजरी गीतों में जीवन के अनेक रंगों की मोहक छटा दिखाई देती है। कहीं राजघरानों के अलौकिक व्यक्तित्व का वर्णन होता है तो कहीं झोपड़ियों में रहनेवाली स्त्री की मनोव्यथा का। जैसे – एक गीत में विरहिणी स्त्री अपनी सखी से कहती है कि मैं किसके साथ कजरी खेलूँ मेरे प्रियतम तो विदेश में हैं–

केहि संग खेलेऊ मैं कजरिया
हरि मोरे छाए दखिनवा ना।
आषाढ़ मास घनाघन गरजई
रिमझिम बरसई सवनवा ना।
भादौ मास छमाछम चमकै
जियरा मोरे डराने ना।
कुवार मास कुंवर पंख लागे
कार्तिक भरे दीपकवा ना।
अगहन मास उठी है लगनिया
सब सखी चली गवनवा ना
माघ पूस कै जाड़ा सतावै
थर–थर काँपे करेजवा ना
फागुन मास मा रंग उड़त है
केहि पर छोड़उ अबिरवा ना।
चैत मास वन टेसू फूलै
भँवरा केलि करै फुलवारियाँ ना।
जेठ वैसाख मा गर्मी सतावै
चोली भीजै पसिनवा ना।
केहि संग खेलेऊ मैं कजरिया
हरि मोरे छाए दखिनवा ना।

अवधी के कजरी गीतों में लोकजीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं की अभिव्यक्ति के साथ इन गीतों में व्यक्ति की वास्तविक मानसिकता दिखाई देती है। सावन लगते ही लड़कियों का मन मायके जाने के लिए मचल जाता है। इस गीत में मायके जाने के लिए स्त्री अपने पति से अनुरोध करती है।

लागै सावन कै महिनवा दिल ना लागै हमार रे सवारियाँ
हमहू का नइहर पहुँचाई दिया हे सवारियाँ
जाईब नइहरे की ओर झलुआ झूलना हिडोल
सोउब बाबा की अटरिया नइहरे पहुँचाए दिया सवारियाँ।

सावन में भाई बहन को लेने उसकी ससुराल जाता है और किसी भी कीमत पर बहन को मायके ले जाना चाहता है पर बहन का ससुर उसे भेजना नहीं चाहता तब वह उसे दलील देता है कि बारह महीने के बाद सावन आया है ऐसे अवसर पर मैं बहन को अवश्य ले जाऊँगा।

किसे के भईया बहिनी बिदा कई देई
बहिन के कोछे गदेल
बारां महिनवा पै लागे है सवनवा
बहिनी लिआई लै जाब।

जो स्त्रियाँ माँ के घर नहीं जा पातीं वे झूला देखकर ललचाती हैं। उनका मन इतना ललचाता है कि वे सबसे छिपकर झूला झूलना चाहती हैं।

झलुआ परा यार तोरी गलियाँ
हम धना झूलन अउबइय ना
सास–ससुर की चोरी अउबइय
सइया की बरजोरी ना
झलुआ परा यार तोरी गलियाँ
हम धना झूलन अउबइय ना।

अवधी भाषा के कजरी गीतो में हास–परिहास के गीत भी दिखाई देते हैं। इस गीत में स्त्री अपने पति से रेलगाड़ी में बैठकर कजरी खेलने की बात करती है। कभी कहती है कि आलू नहीं खाऊँगी सइया भालू बन जाएँगे।

रजऊ गडियन के इन्जनवा
कजरी अब ना खेलबई ना।
जे में खायौ आलू संईया होई गए भालू
आलू अब ना खाईबै ना।
जऊ मैं खायौ भाटा सईया होई गए नाटा,
भाटा अब ना खाईबै ना।

कजरी गीतों में सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं, परंपराओं का चित्रण भी दिखाई देता है। देर रात तक स्त्रियों का घर से बाहर घूमना न

आज मान्य है न तब मान्य था। इस गीत में इसी सामाजिक भाव को देखा जा सकता है।

झलुआ बंद करा बनवारी
हम घर मारी जाबै ना
केना झूलै केना झूलावै
केना टिकुई कढावै ना
झलुआ बंद करा बनवारी
हम घर मारी जाबै ना।
मातु पिता घर हेरत होईहै
कहाँ गई हमारी दुलारी ना
झलुआ बंद करा बनवारी
हम घर मारी जाबै ना।

इस गीत में लड़की कहती है कि झूला बंद कर दो मुझे घर जाना है देर हो गई है। मुझे घर में डांट पड़ेगी। उसके अंदर माता–पिता के प्रति डर का भाव है और यह डर सकारात्मक है। इस गीत में सामाजिक मूल्यों और आदर्शों की बात है। बेटी यदि देर रात तक घर से बाहर रहती है तो माता–पिता को उसकी चिंता होती है। यह सकारात्मक भाव है। माता–पिता बेटी की सुरक्षा को लेकर सदैव चिंतित रहते हैं। कारण रात में असामाजिक तत्वों का अधिक सक्रिय होना। उन्हें डर लगता है कि उनकी बेटी के साथ कोई अप्रिय घटना ना घट जाए। इसलिए वे चिंतित होते हैं।

सोहर

सोहर ऐसा लोकगीत है जो बेटे के जन्म के अवसर पर गाया जाता है। अवधी भाषा के सोहर गीतों में नारी जीवन की विभिन्न स्थितियों का मार्मिक वर्णन मिलता है। इन गीतों में एक ओर सामाजिक विसंगतियों और विडंबनाओं का चित्रण होता है तो दूसरी ओर नारी जीवन की विवशता उसके जीवन के दुख–दर्द और सास–ननद की फटकार भी सुनाई देती है। कुछ गीतों में बेटे के जन्म की खुशी मनाते हुए उसे कुल को तारने वाली कहा जाता है–

कौने रामा पुतवा के पूत भए
अरे धरती अनन्द भई अरे धरती अनन्द भई
हो मोरे रामा कौनै रामा धेरिया जुडानी
तौ दुनहु कुल तारै हो दुनहु कुल तारै हो।

तो दूसरी ओर उसी स्त्री के निसंतान होने पर उसे प्रताड़ित करने का वर्णन भी मिलता है। भारतीय समाज में स्त्री के निसंतान होने पर सारा दोष स्त्री के सिर ही मढ़ा जाता है चाहे पुरुष ही दोषी क्यों न हो। ऐसी स्थिति में पुरुष बड़ी सरलता से स्त्री को त्याग देता है यही नहीं उसे बाझिन कहकर अपमानित और लांछित किया जाता है। सास और ननद उसे बाझिन और कुलनासिन कहती हैं तो पति उसे घर से निकल जाने के लिए कहता है–

सासू कहै मोरी बाझिन हो ननद बृजवासिन
हो मोरी सखियाँ वै हरी घर से निकारै हो
निकरा कुलवानासिन, निकरा कुलवानासिन
हो।

सोहर गीतों में हमारे समाज की विडंबना, कुरीतियों और सामाजिक विसंगतियों का चित्रण भी मिलता है। कुछ परिवारों में बहुओं के प्रति हो रहे अत्याचारों का वर्णन किया गया है। सामान्यतः किसी गरीब घर की लड़की का विवाह यदि अमीर घराने में हो जाता है तो उसे सम्मान देने की बजाय अपमानित किया जाता है। इस गीत में इसी प्रकार का भाव है। गरीब घर की होने के कारण ननद उसे प्रसव के समय भुसउल घर अर्थात् जिस घर में भूसा रखा जाता है उसमें रहने के लिए कहती हैं।

सासू घुमरि–घुमरि पिरिया आवै
कवन घरवा देबू, कवन घरवा दबूँ हो।
सासू तौ बोलइबु ना पावै ननद विरही बोलैं
ननद विरही बोलें हो।
माई बहुत गरीबों कै बिटियवा
भुसउवल घरवा देतिउ ना।
बहिरे से आवै ससुरवा
तौउ हड़पि–तड़पि बोलैं
हे बहुअर दै नाही देतिउ हँसुलियाँ
बेटी ससुराइतिन, बेटी ससुराइतिन हो।

उत्तर भारत में प्रसव के बाद स्त्री को एक ऐसे कमरे में रखा जाता है जिसमें अन्य लोग नहीं जाते। ऐसा शायद बच्चे को किसी से संक्रमण न हो इसलिए किया जाता है।

सोहर गीतों में सास–बहू की नोक–झोंक ननद के तानों, और एक दूसरे के प्रति दुर्व्यवहार

का वर्णन मिलता है। जैसे इस गीत में एक स्त्री की प्रसव पीड़ा का वर्णन है तो दूसरी ओर प्रसव पीड़ा के दौरान ननद के कटाक्ष का वर्णन है। ननद अपनी भाभी से कहती है – सुख के समय तो अकेले सुख भोगा, मिठाई खाई, अब प्रसव पीड़ा के समय सास ननद की याद आ रही है –

मचियहि बैठी हैं सासू तो बहुअर अरज करै
हे सासू आजु मेरा मुंडवा धामाकै
मैं केका बोलावौ मैं केका बोलावौ हो।
दुआरे से आवै ननदिया विरह एक बोलें
विरह एक बोलें हो
भउजी भरि–भरि दोनवा खाइऊ मिठाइयाँ
तो केहुके ना पूछिइऊ हो
भउजी चोरी–चोरी खाइऊ रसगुल्ला तो केहुके ना पूछिइऊ
हे भउजी आजु परा जियरा का गाढ़ तऊ शोर मचाइऊ
सासू का गोगराइऊ हो, सासू का गोहराइऊ हो।

गारी

अवधी लोकगीतों में एक गीत है गारी। यह बारात के आने पर द्वार पूजा के समय पर गाई जाती है। जब समधी और दूल्हा खाना खाने बैठते हैं तब गाई जाती है। गारी बड़े प्यार से बारातियों और समधी के सम्मान में गाई जाती है। रामचरित मानस में भी राम के विवाह के समय गारी गाने का वर्णन मिलता है। गारी गीत में सबसे पहले राम और सीता के जीवन से संबंधित गारी गाई जाती है जैसे –

रामा औ लक्षिमन एक मति कीन्हां
अरे चला भईया चली ससुरारि
की हां सीता राम से बनी।
केकय अहिउ तुहहू बारी दुलारी
हो केकय अहिउ तुहहू बारी दुलारी
अरे केकय राखावउ फुलवारी
कि हां सीता राम से बनी।
राजा जनक जी कै बारी दुलारी
हो राजा जनक जी कै बारी दुलारी
अरे उनहिकै राखिवउ फुलवारी
कि हां सीता राम से बनी।
जौ जुहू अहिउ सीता बारी कुवारी हो
जौ तुह अहिउ सीता बारी कुंवारी
अरे बैईठऊ ना बगल हमारी
कि हां सीता राम से बनी।
किसे के बैईठउ रामा बगल तोहारी हो
कैईसे के बैईठउ रामा तोहारी हो
अबहि मैं बारी कुंवारी
कि हां सीता राम से बनी।
कुस कै पहितिया लै के बाबा संकल्पै हो
तबै बैईठउ बगल तोहारी
कि हां सीता राम से बनी।
झिनवा कै बात जतन से बनायौ
अरे मूँग कै दाल बघारी
कि हां सीता राम से बनी
जेवन बैईठे हैं समधी दशरथ रामा
देती सखी सब गारी
कि हां सीता राम से बनी।

इस गीत में राम और सीता के प्रथम मिलन के समय का वर्णन है। एक ओर जहाँ राम का मर्यादित प्रेम निवेदन है तो वहीं दूसरी ओर सीता का मर्यादित संकोच है। राम सीता का परिचय पूछते हैं और कहते कि यदि तुम्हारा विवाह नहीं हुआ तो तुम मेरी बगल में बैठो सीता उत्तर देती है कि जब तक मेरे पिता कुश लेकर संकल्प सहित आपको नहीं देते तब तक मैं आपके साथ नहीं बैठ सकती।

इन गारी गीतों के अतिरिक्त भद्दी गालियों से संबंधित गीत भी गाए जाते हैं। पर सब बारातियों के सम्मान में ही गाए जाते हैं।

अवधी भाषा के विवाह गीतों में सामाजिक विडंबना और सामाजिक विसंगति का चित्रण है। उस समय लड़कियों की शादी के संबंध में उनकी राय जानना तो दूर उन्हें बताया भी नहीं जाता था और शादी तय कर दी जाती थी। इसके साथ ही सास–ननद के ताने सुनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। एक गीत में माँ की गोदी में सो रही लड़की बैंड बाजे की आवाज से उठती है और माँ से पूछती है कि किसके घर में बैंड बज रहा है किसकी शादी हो रही है तो माँ उत्तर देती है कि तुम्हारे घर में ही बैंड बज रहा है तुम्हारी ही शादी

है। बेटी अवाक रह जाती है कहती है कि अभी तो मैंने कुछ काम करना नहीं सीखा। खाना बनाना नहीं सीखा यदि सास–ननद मेरे भाई को गाली देगीं तो मुझसे सहा नहीं जाएगा। माँ बेटी को समझाती है कि तुम गुन ढंग सीख लो, खाना बनाना सीख लो अगर सास–ननद गाली देगीं तो आशीर्वाद समझकर सुन लेना–

सोवत रहयौ मईया के कोरवा
उठलेउ झझकि अकुलाई
केकरे दुआरें मईया बाजन बाजै
केकर रचा है बियाह
तोहरे दुआरें बेटी बाजन बाजै
तोहराहि रचा है बियाह।
नाही सिखयौ मोरी मईया गुन और सहुरवा
नाही सीखयौ राम रसोई
सासू–ननद मोरा भईया गरिअई है
मोरे बूते सहीयवऊ न जाए
सिखि लियौ मोरी बेटी गुन और सहुरवा
सिखि लियौ राम रसोई
सासू–ननद तोरा भईया गरिअई है
लै लिहुउ अचरा पसार।

अवधी भाषा के लोकगीतों की कोई अपनी लिपि नहीं है। वे देवनागरी लिपि में ही लिखे गए हैं। लोकगीतों की कोई साहित्यिक शैली नहीं होती। कहीं–कहीं ये गीत प्रश्नोत्तर शैली में होते हैं। तो कई गीतों में कहानियाँ होती हैं। ये मौखिक परंपरा में श्रुति के आधार पर लिखे जाते हैं। सहजता और सरलता इनका प्रमुख गुण होता है। लोकगीतों की विशेषता यह होती है कि सभी भाषाओं में गाए जानेवाले लोकगीतों की भावभूमि समान होती है। डॉ. शांति जैन कहती हैं "लोक गीत गीतिकाव्यों के आरंभिक एवं अविकसित रूप हैं। शब्द और अर्थ के साथ इनमें संगीतात्मकता एवं रागात्मक अभिव्यक्ति, संवेदनशीलता और आत्मीयता है। संगीत एवं काव्य की दृष्टि से लोकगीतों का बड़ा महत्व है। लोकमानस के स्वाभाविक, उल्लास, उमंग, व्यथा, पीड़ा, परंपरागत रीति–रिवाज तथा काव्य की रसात्मक अनुभूतियाँ लोकगीतों में हैं।"[2]

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. यायावर देवेंद्र सत्यार्थी – सं ओमप्रकाश सिंघल– पृ. 78

2. शांति जैन। लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, पृ. सं. 6 (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1999)

3. लोकगीतों का उदाहरण लस्मृति के आधार पर दिया गया है।

– एसोसिएट प्रोफेसर, जीसस एंड मेरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

पत्रकारिता एवं जनसंचार के माहौल में हिंदी के बढ़ते रोजगार

रजत रानी मीनू (आर्य)

हिंदी में रोजगार को लेकर भारतीय समाज में स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। अध्ययन के लिए दूसरे विकल्पों की तरह हिंदी के चुनाव में असमंजस की स्थिति अधिकतर विद्यार्थियों में देखी जाती रही है। विद्यार्थियों में ही क्यों उनके माता–पिता की भी यही सोच अधिकतर देखी जाती रही है, "हिंदी में पढ़कर क्या करोगे? अमुक ने हिंदी में एम.ए. किया था वह बेकार बैठा/बैठी है।" अंग्रेजी शासन भले न हो मगर हम सब अंग्रेजी वातावरण में रहते हैं, इसलिए समाज में शिक्षितों–अशिक्षितों के मन में यह धारणा बनना स्वाभाविक भी है। लोगों को यहाँ तक कहते सुना है कि अंग्रेजी भूखा नहीं मरने देगी यानी अंग्रेजी पढ़नेवाले को रोजगार निश्चित ही मिल जाएगा। यानी समाज में आज तक आजादी के सत्तर वर्ष बीत जाने के बाद भी अंग्रेजी का प्रभाव बना हुआ है क्योंकि रोजगार अंग्रेजी भाषा तक ही सीमित हैं, इसलिए हिंदी के प्रति उदासीनता बढ़ती गई। अंग्रेजी नौकरी की भाषा मान ली गई। यह सोच हमारे समाज में गाँव से लेकर महानगरों तक बनी हुई है। यह सोच कैसे बनी? कहाँ से बनी और क्यों बनी? क्या हिंदी पूरी तरह से रोजगार विहीन भाषा है? और इस बात में कितनी सच्चाई है या फिर यह धारणाएँ हवाहवाई ही हैं। इस तरह के अनेक सवाल हैं जिन पर बात होनी चाहिए।

यदि हिंदी रोजगार नहीं दे सकती तो सच में देश के विश्वविद्यालयों में हिंदी विभागों को बनाए रखने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। हिंदी का पठन–पाठन बंद कर देना चाहिए , मगर उक्त धारणाओं में सच्चाई कम अफवाहें अधिक हैं। जबकि हिंदी वैश्विक भाषा बन रही है परंतु मनोवैज्ञानिक रूप से अंग्रेजी भारतीय मानस पर अभी भी अपना दबदबा बनाए हुए है। अंग्रेजी या किसी भी भाषा को जानना और पढ़ना बुरा नहीं है। हमारा समाज अंग्रेजी के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है, लेकिन यह भी सच है कि अंग्रेजी हमारे देश की भाषा नहीं रही है। यह बात हम सब जानते हैं। अंग्रेजी भाषा अंग्रेजों के साथ आई थी। अंग्रेजों के साथ गई नहीं। यह हमारे दिलो–दिमाग में न सिर्फ बसी है बल्कि यह काफी हद तक देश की भाषा बनकर रोजगार पर भी अपना वर्चस्व बनाए हुए है और हमें मनोवैज्ञानिक रूप से भयभीत किए हुए भी है। अंग्रेजी शासन–प्रशासन में भी अपनी घुसपैठ बनाए हुए है। इस अंग्रेजी के वातावरण में हिंदी को सच में अपने अस्तित्व के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा है। वह हारी नहीं है। उसने अपने लिए तमाम रास्ते तलाशे हैं। हिंदी भी रोजगारोन्मुख भाषा हो सकती है। इसी सकारात्मक सोच के कारण उसने शासन–प्रशासन में भी अपनी महत्वपूर्ण जगह बनाई है। देश के बाहर भी अपने पैर पसारे हैं। वह कई जगह अंग्रेजी को परास्त सा करती दिखाई देती है।

पत्रकारिता और भारतीय जनसंचार ने हिंदी को बहुत बल दिया है। तमाम रोजगार के अवसर मीडिया ने खोले हैं। जनसंचार ने हिंदी के अवसर बहुत तेजी से बढ़ाए हैं। कई अंग्रेजी के मीडिया

चैनल ऐसे हैं जहाँ हिंदी जाननेवाले रिपोर्टरों एवं अन्य मीडिया कर्मियों को रखना ही पड़ता है। आज की अंग्रेजी पत्रकारिता में संपादक, संवाददाताओं के साथ अन्य कर्मियों को हिंदी में काम करना आवश्यक हो गया है क्योंकि अंग्रेजी पत्र एवं चैनल हिंदुस्तान में ही संचालित होते हैं जहाँ हिंदी क्षेत्रों से भी समाचार एवं सूचनाएँ एकत्रित करनी होती हैं। ऐसी स्थिति में मीडिया में हिंदी में सक्षम लोगों के लिए अपार अवसर विकसित हो रहे हैं। यह बात ठीक उसी तरह की है जिस तरह हिंदी पत्रकारिता में अंग्रेजी जाननेवालों के रोजगार के अवसर अधिक बढ़ जाते हैं। उसी तरह अंग्रेजी मीडिया में हिंदीवालों के अवसर बढ़ जाते हैं। हिंदी हिंदुस्तान की भाषा है। उसके प्रयोक्ता अंग्रेजी से अधिक हैं। चाहे चैनल हों या मीडिया के दूसरे स्रोत हों, हिंदी में काम करनेवालों की आवश्यकता निरंतर बनी रहती है। हिंदी भाषा के इस तरह के पक्ष को समाज में नजरंदाज किया जाता रहा है, बल्कि यह कहें कि हिंदी के इस महत्व को हमारी युवा पीढ़ी ने गंभीरता से नहीं लिया है जितना लेना चाहिए था। उनके लिए अंग्रेजी न आना शर्म की बात हो सकती है मगर हिंदी न आना गर्व की बात होती है उन युवाओं के लिए, जो दिखावटी जीवन अधिक जीते हैं। इसी सोच के कारण वे हिंदी को जानते हुए भी हिंदी को बिगाड़कर बोलते हैं। 'मेरा हिंदी कमजोर है।' इस सोच ने अवश्य हिंदी का नुकसान किया है, मगर हिंदी का महत्व इससे कम नहीं हुआ है। आवश्यकता हिंदी के प्रति आपको दक्षता हासिल करने की है। अपने को व्यक्त करने की क्षमता विकसित करने की है जिससे इस तरह का दिखावटी जीवन जीने वालों की सोच बदली जा सके वह आत्मविश्वास से ही बदली जा सकती है। समाज में हिंदी के प्रति उदासीनता इस हद तक है कि हिंदी को क्या पढ़ना, क्या सीखना और क्या अपने को दक्ष बनाना है? हिंदी तो हम सभी बोलते हैं। यह तो आती ही है। इसी तरह की सोच ने हिंदी के विकास को तो अवरुद्ध किया ही है स्वयं हिंदी पढ़नेवालों के प्रति मन में नकारात्मक छवि पैदा की है, उनमें हीनभावना भरने का काम अधिक किया है। जरूरत है हिंदी से रचनात्मक और रोजमारोन्मुख प्रेम और सम्मान करने की।

हाल ही में हिंदी की सुप्रतिष्ठित, सुपरिचित सबसे अधिक पढ़ी जानेवाली हिंदी की कवयित्री अनामिका जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई है। यहाँ महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि वे अंग्रेजी की विद्यार्थी और प्राध्यापिका रही हैं मगर वे हिंदी में लिखती–पढ़ती हैं और साहित्य अकादमी तक पा जाती हैं। उनके हिंदी में किए गए रचनात्मक कार्यों को सराहा जाता है। वे अंग्रेजी से अधिक हिंदी के कामों के लिए जानी जाती हैं। वे कवयित्री के साथ कथाकार भी हैं और बहुत अच्छी स्त्री विमर्शकार हैं। उन्होंने हिंदी का सम्मान किया है हिंदी ने उनका मान बढ़ाया है।

इसके अलावा हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा को कौन नहीं जानता। अंग्रेजी के प्रोफेसर होकर भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद उन्हीं का नाम हिंदी आलोचना में सम्मान के साथ लिया जाता है। डॉ. नगेंद्र दिल्ली विश्वविद्यालय के पहले हिंदी विभागाध्यक्ष रहे हैं। वे भी अंग्रेजी से हिंदी में, दोबारा एम. ए. करके आए थे। ये उदाहरण हिंदी के रोजगार और सम्मान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और प्रेरणीय भी। यहाँ एक और उदाहरण दिया जा सकता है। डॉ. धर्मवीर ने अंग्रेजी माध्यम से पीएचडी की थी और हिंदी माध्यम से वे पहले आई.ए.एस. बने और हिंदी के महत्व को रेखांकित करनेवाली 'हिंदी की आत्मा' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। इसके अलावा और महत्वपूर्ण उदाहरण हम सबके सामने है कि हमारे देश के प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी की मातृभाषा गुजराती होते भी आकाशवाणी से 'मन की बात' हिंदी में ही कहते हैं, जिससे हिंदी को व्यापक प्रोत्साहन मिल रहा है। हिंदी के विदेशी विद्वान हेंनस वेसेलर जिन्हें भारत सरकार ने पिछले विश्व हिंदी सम्मेलन में सम्मानित किया था उन्होंने हाल ही में एक वक्तव्य में कहा कि हिंदीवालों को खराब अंग्रेजी में लिखने के बजाय अच्छी हिंदी

में कहानियाँ, उपन्यास और आत्मकथाएँ लिखनी चाहिए। आपके हिंदी में किए गए कार्य अच्छे समझे जाएँगे तो दूसरी भाषाओं में अनुवाद कर लिए जाएँगे। वेसेलर जर्मन के निवासी होकर भी बहुत अच्छी धाराप्रवाह हिंदी बोलते और पढ़ाते भी हैं।

कहने का आशय यह है कि हिंदी को गंभीरता के साथ गहन अध्ययन करने और उसको सम्मान के साथ पढ़ने की आवश्यकता है। हिंदी ही क्यों गंभीरता के अभाव में तो इंजीनियर और डॉक्टर की डिग्रियाँ भी कूड़ा बन जाती हैं। रोजगार की तलाश के साथ–साथ उसके लायक बनने की आवश्यकता भी है। चाहत एक चीज है कोशिश अलग बात है। हिंदी भाषा के प्रति एक सच्चाई यह है कि खास कर इन बीस–पच्चीस वर्षों में समाज में, शिक्षा, उच्च शिक्षा, कला–संस्कृति में, प्रकाशन में, बाजार इत्यादि जगहों पर बहुत तेजी से हिंदी का महत्व बढ़ा है। इन क्षेत्रों में हिंदी के रोजगार की आवश्यकता महसूस की गई है। मीडिया के साथ सोशल मीडिया में भी हिंदी के रोजगार बढ़े हैं। जरूरत है हिंदी को व्यवसाय और रोजगार की भाषा बनाने के लिए उसमें दक्ष बनने की है। उसके प्रति ईमानदारी से उसके लायक अपने को उसी तरह तैयार करने की है जैसे दूसरी भाषाओं खास कर अंग्रेजी के प्रति जो आवश्यकता आपके मन में गहरी बैठी हुई है उसी तरह की आवश्यकता हिंदी के प्रति आपके मन में होगी तो रोजगार आपके पास दौड़ते हुए चले आएँगे, नहीं तो आए हुए अवसर भी खिसकते देर नहीं लगेगी।

हिंदी के प्रति एक भ्रम यह भी फैलाया जाता रहा है कि हिंदी पढ़कर स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में मास्टर ही बन सकते हैं। इसलिए हिंदी में रोजगार के अवसर बहुत सीमित हैं। हिंदी के बजाय अंग्रेजी या अन्य कोई विदेशी भाषा सीख लेते हैं। इस बारे में मैं यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि यह सोच अब से पच्चीस–तीस वर्षों तक अवश्य रही होगी मगर आज यह बात शत–प्रतिशत सच नहीं हैं। आज के वैश्विक युग में हिंदी की आवश्यकता और उसके प्रति संकुचित सोच से लोग बाहर निकले हैं। हिंदी शिक्षकों के लिए भी देश के बाहर भी रोजगार के अवसर बढ़े हैं।

बाजार को एक उदाहरण के रूप में आज हम देखें तो पाएँगे कि इस भूमंडलीकरण में कितनी तेजी से बाजार ने अपने पैर पूरी दुनिया में पसारे हैं। इसका सीधा लाभ उस देश की प्रमुख भाषा को मिलता है। निश्चित रूप से हिंदी हमारे देश की ऐसी भाषा है जो हमें जम्मू कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक एक सेतु के रूप में जोड़ती है। ऐसी स्थिति में विदेशी उत्पादकों की आवश्यकता बन जाती है कि अपने उत्पाद को भारतीय बाजारों में लाने के लिए हिंदी से बच कर नहीं निकल सकते। विज्ञापन से लेकर उत्पाद को आम जन तक पहुँचाने के लिए हिंदी भाषी लोगों के युवक–युवतियों की आवश्यकता होगी ही। वहाँ सिर्फ अंग्रेजी के जानने से काम नहीं चलेगा। इस दृष्टि से बाजार में विभिन्न तरह के अपार रोजगार पैदा हुए हैं। आवश्यकता हिंदी भाषा पर मजबूत पकड़ बनाने की है और क्षमता विकसित करने की भी है।

इसी तरह यदि हम हिंदी भाषा को मीडिया में रोजगार की नजर से देखें तो यहाँ भी रोजगार के अनेकानेक अवसर बढ़े हैं। मैं ऊपर संकेत कर चुकी हूँ कि खास कर अंग्रेजी चैनल और अंग्रेजी अखबारों में काम करनेवालों को यदि हिंदी भाषा में भी महारत हासिल हो तो उन प्रतियोगियों के रोजगार के अवसर बढ़ेंगे जिनको हिंदी अच्छी तरह से लिखनी, पढ़नी और बोलनी आती हो उन लोगों की तुलना में जिन्हें हिंदी नहीं आती है। मेरे सामने ऐसे कई उदाहरण हैं जिन्हें अंग्रेजी अखबार और चैनलों में नौकरी तो मिल गई थी मगर हिंदी में लिखने–पढ़ने का अभ्यास न होने के कारण ऐसे लोगों ने अपने रोजगार से हाथ धोए हैं। दूसरी तरफ उन लोगों के रोजगार के अवसर बढ़े हैं जो हिंदी बोलने और लिखने में सक्षम थे। वे आज भी प्रिंट और इलैक्ट्रॉनिक हिंदी और अंग्रेजी मीडिया में अपनी मजबूती से जड़े जमाए बैठे हैं।

इस तरह हिंदी मीडिया आज के युवक और युवतियों के लिए रोजगार के विभिन्न तरह के

अवसर प्रदान करता है। एक तो सीधे तौर पर हिंदी चैनलों में संपादक, संवाददाता, एंकर के अलावा पर्दे के पीछे काम करनेवालों की संख्या एक चैनल में सैकड़ों की होती है। इस दृष्टि से हिंदी के अवसर सीधे तौर पर बढ़े हैं। आज तमाम न्यूज चैनल खुले हुए हैं और दिन– प्रतिदिन खुलते जा रहे हैं। इस दौर में इन चैनलों पर पूरे दिन नई खबरें परोसने की स्पर्धा सी लगी रहती है। इस होड़ ने आज हिंदी भाषा में महारत हासिल किए युवक–युवतियों के समक्ष रोजगार के अनेक रास्ते खोले हैं। हिंदी चैनलों में रिपोर्टर, एंकर के अलावा भी टाइपिस्ट, प्रूफ रीडर, कंपोजिंग, कार्यक्रम निर्माता, फोटोग्राफर, मार्केटिंग, अटैंडेंट, गार्ड इत्यादि की आवश्यकता होती है और इस क्षेत्र में हिंदी जाननेवालों के लिए रोजगार के अवसर बढ़ रहे हैं।

इसी तरह हिंदी प्रिंट के क्षेत्र में अच्छी हिंदी की समझ रखनेवालों की हमेशा आवश्यकता बनी रहती है। इसमें भी एक नहीं अनेक पद होते हैं जो संपादक से लेकर सह–संपादकों, संयुक्त संपादकों, टाइपिस्ट, प्रूफ रीडर, कंपोजिग, सेल्स, यहाँ तक कि रिसेप्शनिस्ट और गार्ड तक के पद पर हिंदी जाननेवालों की आवश्यकता होती है। किसी अखबार, पत्रिका चलाने के लिए हिंदी बोलने, लिखने, पढ़ने जाननेवालों की जरूरत सैकड़ों में होती हैं। आज हम देखते हैं हिंदी की नई पत्र–पत्रिकाएँ लगातार प्रकाशित हो रही हैं। बंद भी होती हैं तो अच्छे टाइपिस्ट, अच्छे प्रूफ रीडर, कुशल संपादकों का अभाव होना भी अनेक कारणों में प्रमुख कारण होता है। सच्चाई तो यह है कि गाँव, कस्बाई इलाके और महानगरों में भी बेरोजगार युवक–युवतियों की लंबी फौज में से हिंदी में कुशलता हासिल किए युवक और युवतियों की संख्या अत्यंत कम है। सौ बेरोजगारों में दस मुश्किल से हिंदी में रुचि रखनेवाले, उसमें काम करने की क्षमता वाले मिलेंगे। नौकरी पाना मनुष्य का स्वभाव और उसकी मानवीय आवश्यकता है मगर लोग अपने को सक्षम बनाने में कम मेहनत कर रहे हैं जिसमें हिंदी भी कोई रोजगार देगी, यह तो वे सोच ही नहीं रहे हैं। हिंदी को आम बोलचाल की भाषा मात्र समझ रहे हैं। इसके प्रति मानस को बदलना होगा। हिंदी में सक्षम रोजगारशुदा लोगों की जिम्मेदारी भी बन जाती है कि वे हिंदी के प्रति खोया हुआ सम्मान, विश्वास और हौसला पैदा करने में अपना योगदान दें।

इसी तरह हिंदी में रोजगार के अवसरों की दृष्टि से नजरें दौड़ाते हैं तो हम पाते हैं कि आज के समय में हिंदी विज्ञापनों का बड़ा बाजार खुला हुआ है। इसके लिए भी अच्छे हिंदी पढ़ने–लिखने और बोलनेवालों की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के अभाव में बहुत सी जगहों पर बड़े–बड़े प्रिंट और चलचित्र पोस्टर्स में बहुत भयंकर त्रुटियाँ देखी जाती हैं क्योंकि जो लोग विज्ञापनों के लिए पोस्टर बना रहे हैं या चलचित्र तैयार कर रहे हैं उन्हें हिंदी भाषा का ज्ञान नहीं है इसीलिए उन त्रुटियों से भरे विज्ञापनों का आशय अर्थ से अनर्थ निकलता है। इसलिए हिंदी में दक्षता रखनेवालों की सख्त आवश्यकता बनी हुई है। हिंदी में कुशल लोगों के अभाव में प्रकाशन क्षेत्रों में एक दो लोगों पर लगातार दबाव बना रहता है। हिंदी में पुस्तकें छपती हैं वह चाहे प्रतिष्ठित प्रकाशक प्रकाशित करें या नए प्रकाशक अपना व्यवसाय खोलें। दोनों तरह के प्रकाशकों को अपने प्रकाशन को संचालित करने के लिए हमेशा अच्छी हिंदी जाननेवालों की जरूरत होती है। उनके बगैर वह अपना प्रकाशन चला ही नहीं सकते। दिलचस्प यह भी है कि इन जगहों पर हमेशा हिंदी में काम करनेवालों को खोजा जाता है। जो काम करते हैं उन पर दबाव अधिक रहता ही है। हिंदी प्रकाशकों को पुस्तक प्रकाशन के अलावा मार्केटिंग और अन्य कार्यालय सहायकों की आवश्यकता भी हिंदी जानकारों की रहती है। यह संख्या दो–चार नहीं होती है। हजारों– लाखों की आवश्यकता होती है। प्रिंट में हिंदी पत्रिकाओं का दिन–प्रतिदिन प्रकाशित होना भी हिंदी रोजगार का संकेत है। पाठकों की संख्या कम नहीं हुई है।

इन निजी क्षेत्रों के अलावा प्रत्येक सरकारी ऑफिस में मोटे तौर पर हिंदी प्रकोष्ठ होता है

क्योंकि हिंदी हमारे देश की राजभाषा है, जिसमें हिंदी अधिकारी की नियुक्ति होती है। इन प्रकोष्ठों में हिंदी अनुवादकों की आवश्यकता बनी रहती है। वहाँ सिर्फ हिंदी अधिकारी ही नहीं होता है उसके साथ कार्यालय में अनेक लोगों की आवश्यकता होती है जो हिंदी में कुशलतापूर्वक काम कर सकें। शासन–प्रशासन की तरफ से जितनी भी योजनाएँ होती हैं वे हिंदी में भी प्रेषित की जाती हैं। यदि कहीं नहीं प्रेषित की जाती हैं तो की जानी चाहिए। इसका दबाव भी हिंदी के प्रति जागरूक लोग ही बना सकते हैं। प्रत्येक सरकारी विभाग में अपना कोई न कोई प्रकाशन भी होता है उसकी जिम्मेदारी हिंदी प्रकोष्ठ को ही दी जाती है। निजी और सरकार द्वारा संचालित संस्थाओं जिसमें स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों शामिल हैं, में हिंदी पठन–पाठन करनेवालों की गणना मैंने यहाँ नहीं की है। इसका सीधा सा कारण है कि उक्त जगहों पर हिंदी के रोजगार के प्रति लोग पहले से ही सचेत हैं। इन क्षेत्रों से इतर, अतिरिक्त हिंदी के रोजगार के अवसर पर चर्चा करना ही मेरा उद्देश्य रहा है। मैं अपनी बात पूरी तरह से नहीं कह पाई हूँ। देश बड़ा है। उसमें संचालित संस्थाएँ भी बहुत अधिक हैं। हिंदी में रोजगार से संबंधित सूचनाओं के बारे में जो क्षेत्र मैंने गिनाएँ हैं वह पर्याप्त नहीं हैं या यह कह सकते हैं कि मेरा ज्ञान क्षेत्र इतना ही सीमित है। हिंदी में रोजगार की संभावनाएँ इससे कहीं अधिक हैं।

आज के बढ़ते जन संचार में सोशल मीडिया ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्हीं में एक है, वेब पोर्टल जहाँ हिंदी लगातार अपनी जगह बना रही है। यहाँ हिंदी में सक्षम लोगों के साथ कंप्यूटर और वेब की तकनीक में आज के हिंदी प्रेमी युवाओं और युवतियों को प्रशिक्षण लेकर इस क्षेत्र में रोजगार तलाश करने चाहिए।

सार रूप में कह सकते हैं कि जितनी आवश्यकता हिंदी में रोजगार तलाशने की है उतनी ही आवश्यकता हिंदी के प्रति सम्मान, दृढ़ता और प्रतिष्ठा का भाव आम जन में पहुँचाने की भी है। अब से पच्चीस–तीस बरस पहले हिंदी में रोजगार के इतने अधिक और सम्मानित अवसर अवश्य नहीं थे। हिंदी अपने देश की आम बोलचाल की भाषा है यही माना जाता था। जिस भाषा में हम बात करते हैं, जिस भाषा से हमारी रोजमर्रा की जरूरतें पूरी होती हैं, जिसमें हम धार्मिक स्थलों पर कथा भागवत पुराण सुनते हैं, क्या उस भाषा से हमें रोजगार भी मिल सकता है? यह सोच बदलने की जरूरत है। यह सोच कैसे बदले। कौन बदलेगा? इस बारे में मेरी जो अपनी निजी सोच बनी है वह यह है कि सबसे पहले उन लोगों की जिम्मेदारी अधिक बनती है जो पहले से ही हिंदी में रोजगारशुदा हैं। वे अपने रहन–सहन, बोलचाल को हिंदी में श्रेष्ठता से प्रदर्शित करें, जिससे सामने वाला हिंदी में अपने भविष्य को देख सके। यहाँ एक बात और महत्वपूर्ण है कि हिंदी को मजबूरी की भाषा समझकर या मजबूरी में रोजगार के लिए नहीं चुनें। हिंदी की प्रतिष्ठा और चुननेवाले की प्रतिष्ठा तभी बढ़ेगी जब आप उसको अन्य विकल्पों में से प्रमुखता से चुनेंगे, तभी आपका आत्मविश्वास भी हमेशा के लिए तरोताजा बना रहेगा। हिंदीवालों को अपनी दिनचर्या और रहन–सहन को भी आधुनिक बनाने की आवश्यकता है। अपने को नित्य प्रतिदिन तराशें। दुनिया के समक्ष कदम से कदम मिलाकर चलें, इससे आपको और हिंदी को मान मिलेगा और हिंदी में रोजगार तो आपके पास दौड़कर चले आएँगे।

– 1/122, वसुंधरा, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश–201012

❑❑❑

हिंदी सिनेमा में स्त्री निर्माता–निर्देशकों की भूमिका (निर्देशक अपर्णा सेन के संदर्भ में)

डॉ. विधि शर्मा

आज के भारतीय समाज और जीवन में सिनेमा की उपस्थिति लगभग अनिवार्य हो गई है। यदि बॉलीवुड और हिंदी सिनेमा की बात की जाए तो इतना तय है कि यह दशकों से हमें लुभाता रहा है और हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है। इसकी पहुँच अब गाँव–गाँव तक हो गई है। जनमानस को फिल्मों ने बहुत गहरे स्तर पर स्पर्श किया है। पिछले सौ वर्षों में सिनेमा संप्रेषण के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में उभरा है। लेकिन साथ ही यह भी भारतीय सिनेमा का एक सच है कि फिल्म निर्माण एवं निर्देशन के क्षेत्र में पुरुषों का वर्चस्व रहा है। लेकिन इस वर्चस्व के बावजूद जिस तरह स्वतंत्रता संग्राम, शिक्षा, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में भारतीय स्त्रियाँ अपनी पहचान बना रही थीं वहीं फिल्म का क्षेत्र भी इनसे अछूता न था। ऐसे समय में जब भारत में फिल्म व्यवसाय को पुरुषों के लिए भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था उस समय में भी स्त्रियों ने फिल्म निर्माण एवं निर्देशन में सराहनीय प्रयोग किए। इसमें सबसे पहले हम फातिमा बेगम का नाम ले सकते हैं जिन्होंने सन् 1926 में अपनी प्रोडक्शन कंपनी – 'फातिमा फिल्म्स' का आरंभ किया। इस कंपनी के बैनर तले उन्होंने 1926 में ही हिंदी फिल्म 'बुलबुल–ए–परिस्तां' का निर्देशन किया। फिर 1926 से लेकर 1928 तक उन्होंने 'हीर–रांझा', 'कनकतारा', 'चंद्रावल' जैसी फिल्में बनाईं। उनका यह प्रयास हिंदी सिनेमा जगत में एक क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है। उस दौर की स्त्री फिल्म निर्माताओं में जद्दन बाई का भी नाम लिया जा सकता है जो फिल्म अभिनेत्री नरगिस की माँ थीं। उन्होंने 'हृदय मंथन'(1936), 'मोती का हार'(1937), 'जीवन स्वप्न'(1937) आदि फिल्मों का निर्माण किया। फिल्म निर्माण के उस आरंभिक दौर में देविका रानी का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा जिन्होंने अपने पति हिमांशु रॉय के साथ मिलकर 1934 में 'बॉम्बे टॉकीज स्टूडियो' की स्थापना की। 1940 में पति की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने स्टूडियो का कार्यभार संभाला और 1943 में ज्ञान मुखर्जी के निर्देशन में 'किस्मत' फिल्म बनाई। अशोक कुमार, मधुबाला, लीला चिटनिस, दिलीप कुमार जैसे बड़े कलाकार उनकी फिल्मों से जुड़े।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी सिनेमा में स्त्रियाँ अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने लगी थीं। उनकी संख्या भले ही कम रही हो लेकिन उनका यह प्रयास सराहनीय था। फिल्म निर्माण ही नहीं बल्कि गीतकार, संगीतकार, कॉस्ट्यूम डिजाइनर, कोरिओग्राफी, सिनेमैटोग्राफी, पटकथा लेखन आदि जैसे फिल्म उद्योग से जुड़े विविध क्षेत्रों में महिलाएँ सक्रिय भूमिका निभा रही थीं। लेकिन इनको कोई विशेष पहचान नहीं मिल पाई थी। लेकिन आठवें–नवें दशक तक आते–आते स्थिति में बदलाव दिखाई देता है जब भारतीय सिनेमा में स्त्री निर्माता और निर्देशक अपनी एक अलग पहचान बनाना शुरू कर देती हैं। आरंभ में समानांतर सिनेमा और फिर

मुख्यधारा सिनेमा में भी उनकी सक्रिय भागीदारी दिखाई देती है। ऐसी स्त्री निर्देशकों में हम सई परांजपेय (स्पर्श – 1980, चश्मेबद्दूर – 1981), कल्पना लाजमी ('एक पल' , 'रुदाली' – 1993, 'दरमियां'), तनुजा चंद्रा (दुश्मन – 1998, जिन्दगी रॉक्स – 2006), दीपा मेहता (अर्थ – 1998, फायर 1998 , वॉटर – 2005), मीरा नायर (मॉनसून वैडिंग –2001, नेमसेक – 2006), अनुषा रिजवी (पीपली लाइव –2010), जोया अख्तर (जिन्दगी न मिलेगी दोबारा– 2011), फरहा खान (मैं हूँ ना –2004, ओम शांति ओम – 2007) आदि का नाम ले सकते हैं जिन्होंने भारतीय सिनेमा को विश्व स्तर पर मान्यता दिलवाई। इन फिल्मों ने समलैंगिकता, किसान आत्महत्या, घरेलू हिंसा आदि जैसे संवेदनशील मुद्दों को उठाया जिन्हें सामान्यतः फिल्म निर्माता– निर्देशक नहीं उठाते। इसके लिए कई बार इन्हें जनता का विरोध भी सहना पड़ा। संख्या की दृष्टि से यह फिल्में भले ही कम हों लेकिन इन फिल्मों ने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाई और पुरस्कृत भी हुईं। ऑस्कर, कान्स फिल्म फेस्टिवल आदि के लिए नामित हुईं और इन्हें सराहा भी गया। इन्हीं निर्देशकों में एक बड़ा नाम है अपर्णा सेन का जिन्होंने अपनी फिल्मों के द्वारा भारतीय समानांतर सिनेमा को एक नई दिशा दी।

अपर्णा सेन का जन्म 25 अक्तूबर 1945 को कलकत्ता में हुआ। वे बांग्ला फिल्म निर्माता एवं समीक्षक चिदानंद दासगुप्त की पुत्री हैं। भारतीय सिनेमा में अपर्णा सेन ने बतौर अभिनेत्री, निर्देशक एवं पटकथा लेखक अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। उन्होंने अपने कैरियर की शुरूआत बांग्ला फिल्मों में अभिनय से की। 1960–70 के दशक की बांग्ला फिल्मों की वे एक चर्चित अभिनेत्री थीं। उनकी पहली फिल्म थी सत्यजीत रे के निर्देशन में बनी फिल्म 'तीन कन्या'(1961)। इस फिल्म में वे मात्र 16 वर्ष की थीं। यहाँ से अभिनय का जो सफर शुरू हुआ वह अभी तक जारी है। बांग्ला फिल्मों में अभिनय के लिए उन्हें अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार मिले। उनके द्वारा निर्देशित पहली फिल्म है '36 चौरंगी लेन' (1981) जिसके प्रोडयूसर थे हिंदी जगत के जाने माने अभिनेता शशि कपूर। इस फिल्म के लिए अपर्णा सेन को श्रेष्ठ निर्देशक का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी मिला। बतौर निर्देशक उनकी अन्य चर्चित फिल्में हैं – 'युगांत' (1995), 'मिस्टर एंड मिसिज अय्यर' (2002), '15 पार्क एवेन्यु' (2005), 'द जैपनीज वाइफ' (2010) आदि। उनके द्वारा निर्देशित फिल्में या तो बांग्ला में हैं या अंग्रेजी में। हिंदी फिल्मों में 'सारी रात' ही एक मात्र फिल्म है जो उन्होंने निर्देशित की। हाल ही में उनकी एक चर्चित अंग्रेजी फिल्म रिलीज हुई है 'सोनाटा' (1917)। इस फिल्म का निर्देशन करने के साथ–साथ यहाँ उन्होंने एक अहम भूमिका भी निभाई है। यह फिल्म एक मराठी नाटक से प्रेरित है। फिल्मों के निर्देशन के लिए उन्हें 3 राष्ट्रीय एवं 9 अंतरराष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी मिले हैं। सन् 1987 में अपर्णा सेन को भारतीय सिनेमा में अपने योगदान के लिए पद्मश्री सम्मान से भी नवाजा गया। आनंद बाजार पत्रिका ग्रुप द्वारा प्रकाशित बांग्ला स्त्री पत्रिका 'सानंद' की वे लंबे समय तक संपादक (1986 से 2005) भी रहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपर्णा सेन भारतीय सिनेमा में अपना एक अहम स्थान रखती हैं। उन्होंने बतौर निर्देशक अपनी एक अलग पहचान बनाई है। अपनी फिल्मों में उन्होंने दर्द और अकेलेपन की बात की है। '36 चौरंगी लेन' (1981) से लेकर हाल ही में रिलीज हुई फिल्म 'सोनाटा' (2017) तक उनकी सभी फिल्में दर्शकों के लिए एक अलग अनुभव का विषय रही हैं। यहाँ हम अपर्णा सेन की जिस फिल्म पर बात करने जा रहे हैं वह है 2005 में रिलीज हुई फिल्म–' 15 पार्क एवेन्यु'। चर्चित फिल्म निर्देशक कल्पना लाजमी का कहना है –" हर युग में फिल्मकार या कोई भी सृजनात्मक व्यक्ति नए क्षेत्रों की खोज करता है"। अपर्णा सेन की इस फिल्म में भी इस सृजनात्मकता को देखा जा सकता है। फिल्म के मुख्य कलाकार हैं– शबाना आजमी, कोंकणा सेन शर्मा, वहीदा रहमान, राहुल बोस, धृतिमा चटर्जी और कंवलजीत। '15 पार्क एवेन्यु' उन चुनिंदा फिल्मों में से है जो मात्र

मनोरंजन या पैसा कमाने के लिए नहीं बनाई जातीं। यह फिल्म सामान्य दर्शक की माँग को भले ही पूरा न करती हो किंतु इस फिल्म में ऐसा कुछ है जो दर्शकों को स्तब्ध कर जाता है। एक ऐसी सच्चाई जिसे स्क्रीन पर ला पाना एक औसत निर्देशक के बस के बाहर की बात है। फिल्म की कहानी एक ऐसे परिवार की कहानी है जिसमें छोटी बेटी मिताली (जिसे प्यार से सब मीठी कहते हैं) सिजोफ्रेनिया की मरीज है। इस बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति को मानसिक रोगी करार दे देना दुनिया के लिए आसान हो सकता है किंतु जिस परिवार में ऐसा रोगी है उसके लिए स्थितियों का सामना करना आसान नहीं है, वह भी भारतीय समाज में जहाँ बेटी को पालना–पोसना माता–पिता की एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। परिवार में ऐसे रोगी के होने से उत्पन्न विभिन्न स्थितियों के माध्यम से पारिवारिक रिश्तों की जटिलताएँ भी सामने आई हैं। फिल्म में अहम किरदार स्त्रियों का ही है। परिवार में माँ (वहीदा रहमान), बड़ी बेटी अंजलि (शबाना आजमी) और छोटी बेटी मिताली (कोंकणा सेन शर्मा) की जिन्दगी के इर्द–गिर्द ही फिल्म की कहानी बुनी गई है जिससे भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति से जुड़े अनेक पहलू सामने आते हैं। फिल्म में सिजोफ्रेनिया से जूझ रही मिताली की केंद्रीय भूमिका है जिसे कोंकणा सेन ने अपने मंझे हुए अभिनय से सजीव कर दिया है। कोंकणा सेन ने अपनी अधिकांश फिल्मों में अभिनय की ऊँचाई को छूते हुए बहुत चुनौतीपूर्ण किरदार निभाए हैं, चाहे वह उनकी 'लाइफ इन मेट्रो' फिल्म हो, 'पेज थ्री' या 'अतिथि तुम कब जाओगे' आदि। सभी फिल्मों में बतौर अभिनेत्री उनकी भूमिका को सराहा गया है।

'15 पार्क एवेन्यु' फिल्म में मिताली में आरंभ से ही सिजोफ्रेनिया की प्रवृत्ति है। इसके बावजूद वह पढ़ाई करती है और जर्नलिस्ट की नौकरी भी करती है। हालाँकि उसमें आत्मविश्वास की कमी लगातार नजर आती है। उसका एक दोस्त है– जोजो (राहुल बोस) जिससे उसकी सगाई हो चुकी है और जल्दी ही शादी भी होने वाली है। उसके जीवन में सब कुछ ठीक है सिवाय इसके कि उसे हर सप्ताह डॉक्टर के पास रुटीन चेक–अप के लिए जाना पड़ता है। लेकिन तभी उसके जीवन में एक ऐसी दर्दनाक घटना घटती है जो उसे मनोवैज्ञानिक रूप से विक्षिप्त बना देती है। रिपोर्टर के तौर पर वह एक गाँव में चुनाव के उपरांत हुए दंगों को कवर करने के लिए जाती है। अपने आत्मविश्वास को बढ़ाने और खुद को एक समर्थ पत्रकार साबित करने की जिद में वह परिवार वालों के मना करने पर भी अकेली वहाँ पहुँच जाती है। वहाँ कुछ राजनीतिक गुंडे उसका सामूहिक बलात्कार करते हैं। इस हादसे का उसके दिमाग पर गहरा असर पड़ता है। अभी वह मानसिक और शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ भी नहीं हो पाती कि तभी उसके प्रेमी और मंगेतर का सगाई तोड़कर उससे दूर चले जाना उसे गहरे सदमे में डाल देता है। बीमारी के लक्षण इन सब स्थितियों के साथ जुड़कर घनीभूत हो जाते हैं। मिताली का सपना था कि वह शादी करके अपने पति और बच्चों के साथ सुखी जीवन बिता सके लेकिन उसका यह सपना एक झटके में टूट गया और जीवन के सारे तार तितर–बितर हो गए। मिताली के साथ हुआ यह हादसा भारतीय समाज की तस्वीर सामने ले आता है जहाँ आए दिन स्त्रियाँ और यहाँ तक की बच्चियाँ भी बलात्कार का शिकार होती रहती हैं। कानून की लचर व्यवस्था के चलते अपराधी या तो पकड़ा ही नहीं जाता और पकड़ा भी जाता है तो उसे सजा देने में एक लंबा अरसा गुजर जाता है। आज विकास के चाहे कितने ही दावे किए जा रहे हैं और पूँजी पर नई दुनिया खड़ी की जा रही है लेकिन वास्तविकता यह है स्त्री जीवन की सुरक्षा और उसका दुख–दर्द इन सबके बीच से गायब है। मिताली का जीवन इस घटना के बाद से एकदम बदल जाता है। उसे तरह–तरह के भ्रम होने लगते हैं। उसे लगता है कि वह शादीशुदा और पाँच बच्चों की माँ है। वह खुद की एक दुनिया गढ़ लेती है और उसी में हमेशा रहती है। इसी दुनिया में उसका घर है जिसका पता है– 15 पार्क एवेन्यु जहाँ पति और

बच्चे उसका इंतजार कर रहे हैं। फिल्म का आरंभ ही इस पते की तलाश से होता है जहाँ दोनों बहनें अंजलि और मीठी गाड़ी से उस घर की तलाश कर रहे हैं जो वास्तव में है ही नहीं।

फिल्म में अंजलि और मीठी के माध्यम से दो बहनों के घनिष्ठ रिश्तों को भी सामने लाया गया है। अंजलि तलाकशुदा है और यूनिवर्सिटी में फिजिक्स की प्रोफेसर है। यूनिवर्सिटी लैक्चर आदि के अतिरिक्त उसकी अपनी निजी जिंदगी भी है जो परिस्थितिवश बार–बार कहीं पीछे छूटती जाती है। उसी के साथ पढ़ाने वाला प्रोफेसर (कंवलजीत) उसे पसंद करता है और उसकी जिन्दगी में थोड़ा स्पेस चाहता है लेकिन अंजलि के लिए मीठी एक बड़ी जिम्मेदारी है। साथ ही पिता के गुजर जाने के बाद माँ के प्रति उत्तरदायित्व भी है। कहने को तो परिवार में बड़ा बेटा भी है किंतु वह अपनी पत्नी और बच्चों के आसपास ही अपने जीवन को समेटे हुए है। बहन और माँ के प्रति किसी भी तरह की जिम्मेदारी का एहसास उसे नहीं है। ऐसे में अंजलि का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है और वह अपनी निजी जिंदगी को दरकिनार करके अपने जीवन को माँ और बहन के इर्द गिर्द समेट लेती है। 40 वर्ष से ऊपर उम्र हो जाने पर भी इन सब जिम्मेदारियों के निर्वाह के कारण ही वह दोबारा शादी भी नहीं करती। कई तरह के मानसिक द्वंद्व उसे मथते रहते हैं। एक बार वह झुंझलाहट में अपनी माँ से कहती भी है– "आप नहीं समझ सकतीं कि मैं अपनी बहन के लिए क्या कर रही हूँ"। हालाँकि बाद में उसे अपराध बोध भी होता है कि उसने ऐसा क्यों कहा। वास्तव में यह उसके जीवन का अधूरापन ही है जो उसे ऐसा करने पर विवश करता है। शबाना आजमी ने अपने अदभुत अभिनय से इस किरदार में जान डाल दी है। फिल्म में माँ–बेटी के संबंध भी कई रूप में सामने आए हैं। वहीदा रहमान ने फिल्म में माँ के चुनौतीपूर्ण किरदार को निभाया है। अंजलि उसके पहले पति की निशानी है और दूसरे विवाह के बाद मीठी का जन्म हुआ है। फिल्म में इस बारे में ज्यादा चर्चा नहीं होती क्योंकि इससे कहीं बड़े मुद्दे हैं जिन्हें फिल्म उठाती है। अंजलि और मीठी की उम्र में लगभग 18 वर्ष का अंतर है। परिवार में माँ भी कई तरह की मानसिक तकलीफ से गुजर रही है। पति की मृत्यु ने उसे अकेला कर दिया है। बेटियों के विवाह और मीठी की बीमारी की चिंताओं ने उसे लगातार घेर रखा है। माँ–बेटी के संबंध को सजीव करने वाले अनेक भावुक क्षण फिल्म में मौजूद हैं।

राहुल बोस (जोजो) ने फिल्म में मीठी के मंगेतर की भूमिका निभाई है और कुछ ही दृश्यों में अपने सशक्त अभिनय द्वारा अपनी मौजूदगी का अहसास बनाए रखा है। जोजो का किरदार एक ऐसे पुरुष का किरदार है जो आमतौर पर भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा है। ऐसा पुरुष जो चुनौतियों का सामना नहीं कर सकता, ऐसा पुरुष जो परंपरागत मानसिकता से लबरेज है। तभी तो वह सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद अपनी मंगेतर और प्रेमिका मीठी को अपना नहीं पाता। उसे सांत्वना देने की जगह वह अपनी ही कशमकश एवं अनिर्णय की स्थिति में डूबता–उतराता रहता है। इतने आदमियों द्वारा बलात्कार की गई देह को स्वीकार करने की हिम्मत वह नहीं जुटा पाता और मीठी के प्रति उसके व्यवहार में एक खिंचाव सा आ जाता है। उसके स्पर्श में भी एक अजनबीपन झलकने लगता है जिसे वह अनुभव कर लेती है और उसकी मानसिक तकलीफ बढ़ती जाती है। ऐसे में यह सवाल उठता है कि इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्रियाँ ही क्यों सामाजिक दिक्कतों की शिकार हों? क्या संभव है कि अपने अहम में अकड़ा हुआ यह पुरुष समाज कभी स्त्री के दुख–दर्द में शामिल होगा? क्यों इस तरह की घटनाओं को यह पुरुष समाज स्वीकार नहीं कर पाता? हालाँकि फिल्म के अंत में वर्षों बाद जोजो भूटान में मिताली से मिलता है तो उसे उसकी हालत देखकर पश्चाताप होता है। अपनी ही दुनिया में जी रही मीठी उसे पहचान नहीं पाती लेकिन वह उसकी हर संभव मदद करने का प्रयास करता है। साथ ही अब उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं जहाँ उसका अपना भी परिवार है– पत्नी और बच्चों की जिम्मेदारी

है। फिल्म का आरंभ जिस घर की तलाश से हुआ था उसका अंत भी उसी से होता है। फिल्म के अंत में मिताली और जोजो '15 पार्क एवेन्यु' पते की तलाश कर रहे हैं लेकिन वह नहीं मिल रहा है। इसी दौरान अचानक मीठी गायब हो जाती है। सभी उसे ढूँढ रहे हैं और फिल्म के अंतिम दृश्य में मीठी अपनी कल्पना के उस घर को पा लेती है जहाँ जोजो उसका पति है और उसके बच्चे उसके साथ हैं। लेकिन यह महज कल्पना का ही हिस्सा है क्योंकि वास्तव में तो ऐसा कोई घर था ही नहीं। यह घर तो एक सपने की तरह उसके जहन में बसा हुआ था। घर की यह तलाश, मीठी की एक सिजोफ्रेनिया रोगी के रूप में मौजूदगी, बड़ी बेटी के रूप में परिवार की जिम्मेदारी निभाती अंजलि– भारतीय समाज में एक स्त्री के जीवन के दर्द को कई तरह से उजागर करते हैं। परिवार के लिए अपने जीवन को मिटाती औरतों की कमी हमारे समाज में नहीं है जहाँ उनका अपना जीवन भी अपना नहीं होता, होती हैं केवल जिम्मेदारियाँ और सामाजिक मान्यताओं को ढोते रहने की विवशता। फिल्म को देखते हुए यह अहसास बार–बार होता है कि भारतीय समाज में बहुत सी स्त्रियाँ खंड–खंड में अपनी जिंदगी जी रही हैं। वह लगातार शारीरिक और मानसिक रूप से किसी–न– किसी स्तर पर प्रताड़ित हो रही हैं। फिल्म में घर की तलाश करती मीठी वास्तव में स्त्री की उस अनवरत तलाश को प्रतिबिंबित करती है जो चाहकर भी पूर्ण नहीं हो पाती। समकालीन हिंदी कविता की बात करें तो वहाँ भी आज की इस बाजारवादी व्यवस्था में घर की तलाश में भटकते मनुष्य का दर्द मुखर रूप से सामने आया है। इस पूंजीवादी व्यवस्था ने मनुष्य को किस तरह अपनी जड़ों से काट दिया है इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति कवि अशोक वाजपेयी की कविता– 'घास में दुबका आकाश' में इस प्रकार हुई है–

कहाँ है वह घर
जहाँ हम वापस जाना चाहते हैं
जहाँ हर मकान दुकान में बदलने की होड़ में है–
उस भीड़ और हाहातूती में खोजना मुश्किल होगा।

फिल्म की पूरी कहानी बहुत बँधे हुए और सधे ढंग से चलती है। कहीं भी भटकाव नजर नहीं आता। फिल्म को प्रभावी बनाने के लिए उसमें कई महत्वपूर्ण दृश्य फ्लैशबैक के रूप में दिखाए गए हैं। मीठी के अतीत के हिस्से जो उसकी वर्तमान दशा के लिए जिम्मेदार हैं, टुकड़ों–टुकड़ों में फ्लैशबैक में सामने आते हैं और पूरी फिल्म में अपना एक अलग ही प्रभाव छोड़ते हैं। साथ ही दर्शक की जिज्ञासा को लगातार बढ़ाते रहते हैं। फिल्म में संबंधों को लेकर कई ऐसे भावुक दृश्य हैं जिन्हें देखकर आँखे नम हो जाती हैं। शबाना आजमी और वहीदा रहमान ने एक साक्षात्कार में खुद यह स्वीकार किया है कि फिल्म की शूटिंग के दौरान ऐसे दृश्य इतना भावुक कर देते थे कि बीच–बीच में रुककर शूटिंग करनी पड़ती थी। कोंकणा सेन, शबाना आजमी, वहीदा रहमान, राहुल बोस सभी कलाकारों ने फिल्म में अपनी अदभुत अभिनय क्षमता का परिचय दिया है।

इस फिल्म की कहानी के स्रोत के बारे में बताते हुए निर्देशक अपर्णा सेन ने अपने एक साक्षात्कार में बताया है कि यह कहानी व्यक्तिगत अनुभव से जुड़ी हुई है। उनके अपने परिवार में दो ऐसे सदस्य हैं जो इस बीमारी से ग्रस्त हैं और उन्होंने बहुत करीब से उनकी जिन्दगी को देखा है। उनकी तकलीफ को शिद्दत से महसूस किया है। हालाँकि फिल्म की कहानी जीवनीपरक नहीं है किंतु उसका केंद्रीय विचार जीवन की सच्चाई से लिया गया है। अपर्णा सेन का कहना है कि फिल्म, थियेटर और साहित्य में जीवन का सच खुलकर सामने नहीं आ पा रहा है। वह स्वयं भी लंबे समय तक थियेटर से जुड़ी रही हैं और बांग्ला पत्रिका की संपादक भी रही हैं। इसलिए उनकी यह चिंता स्वाभाविक भी है। ऐसे में यह फिल्म जीवन की सच्चाई से रूबरू होने का जिम्मा उठाती है। यह एक सुखद संकेत है और इसका

निर्वाह पूरी ईमानदारी से फिल्म के आरंभ से अंत तक हुआ है।

यह फिल्म मूल रूप से अंग्रेजी में बनाई गई है। अपर्णा सेन द्वारा निर्देशित अधिकांश फिल्में अंग्रेजी में ही हैं। अंग्रेजी में फिल्म बनाने के पीछे जो कारण है उसकी चर्चा करते हुए एक स्थान पर उन्होंने अपने साक्षात्कार में कहा है कि अंग्रेजी फिल्मों को ज्यादा बड़ा दर्शक वर्ग मिल पाता है। जहाँ तक '15 पार्क एवेन्यु' फिल्म का सवाल है तो यह फिल्म खास दर्शकों को ही पसंद आएगी क्योंकि यह कोई आम फॉर्मूला फिल्म नहीं है। फिल्म की संभावनाओं को देखते हुए इसे हिंदी में भी डब किया गया है किंतु यह फिल्म एक आम दर्शक के लिए नहीं है। आम दर्शक हिंदी फिल्म में जिस तरह के मनोरंजन की माँग करता है वह यहाँ सिरे से गायब है। फिल्म में तड़क–भड़क वाले गाने, विदेशों की शूटिंग, खास किस्म के कॉस्ट्यूम और विशिष्ट कोरिओग्राफी एक आम हिंदी फिल्म दर्शक को प्रभावित करने के लिए काफी हैं। लेकिन इस फिल्म में यह सब न होने पर भी यह अपनी सादगी में ही दर्शक पर गंभीर प्रभाव छोड़ती है।

सहायक सामग्री– 1. 'सिनेमा की सोच', अजय ब्रह्मात्मज, वाणी प्रकाशन 2. 'संवेद' पत्रिका विशेषांक भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी सिनेमा, अंक– जनवरी 2015, संपादक– किशन कालजयी 3. 'वसुधा' पत्रिका विशेषांक– हिंदी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, अंक– 81, संपादक– कमला प्रसाद 4. 'पटकथा', शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज, संपादक– श्रीराम तिवारी, मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम का प्रकाशन

– असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग अदिति महाविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

द्विजदेव की काव्य भाषा

डॉ. प्रदीप कुमार

रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्यधारा की श्रृंगारिक मुक्तक परंपरा के देदीप्यमान नक्षत्र 'द्विजदेव' का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। एक सफल राजा होते हुए, एक वीर योद्धा के रूप में युद्ध भूमि की शोभा बढ़ाने वाले महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' ने अपने हृदय के एक कोने में एक संवेदनशील कवि को भी जीवित रखा है। राधा–माधव की श्रृंगारिक लीलाएँ, नायिका के श्रृंगार और प्रकृति–प्रेम को अपने काव्य का वर्ण्य–विषय बनाने वाले कवि 'द्विजदेव' के काव्य ने रीति काव्य के सुधी आलोचकों एवं शोधकर्ताओं का ध्यान बराबर आकर्षित किया है। उनके काव्य के विभिन्न पक्षों को विशिष्टता प्रदान करने में उनकी काव्यभाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। इस लेख में उनकी काव्यभाषा का ही विश्लेषण किया जाएगा। इस क्रम में सबसे पहले भाषा और काव्यभाषा के अंतर्संबंध का जानना अत्यावश्यक है।

संस्कृत के भाष् (= व्यक्तायां वाचि) धातु से 'अ' और 'टाप्' प्रत्यय लगाकर 'भाषा' शब्द सिद्ध होता है। इसके अर्थ हैं–बोली, वाणी, शैली, परिभाषा, सरस्वती आदि।[1] अमरकोश में भाषा को वाणी का पर्याय बताया गया है। ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीः (= गीर), (= वाच), वाणी, सरस्वती (= स्त्री) शब्द ब्रह्म की अधिष्ठात्री देवी 'सुरभारती' के सात नाम हैं और यही भाषा है।[2] महर्षि पंतजलि ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है–जो वाणी वर्णों में अभिव्यक्त होती है, उसे भाषा कहते हैं, दूसरे शब्दों में भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीर अवयवों द्वारा उच्चारण किए गए वर्णात्मक शब्दों से अपने विचारों को प्रकट कर सके।[3]

कामताप्रसाद गुरु–"भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली–भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्वयं स्पष्टतया समझ सकता है।"[4]

डॉ. श्यामसुंदर दास का मत है कि–"विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।"[5]

कवि अपनी संवेदना और अपने अनुभूत को भावकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। अपने उद्गार को व्यक्त करने के लिए वह भाषा ही काव्यभाषा होती है। हिंदी साहित्य कोश में काव्य भाषा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–"सामान्य भाषा और काव्य भाषा का अंतर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय समझती है, जबकि काव्य भाषा के लिए यह सुनिश्चितता सही नहीं। वह शब्दों के रूप को बार–बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक संबद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर वह उसकी अमूर्त और उंमुक्त प्रकृति को पुनः स्थापित करता है।

वास्तव में साहित्यिक भाषा के दो रूप हैं–एक वैचारिक भाषा का, दूसरा संवेद्य भाषा का। प्रथम विचार की वाहिनी होती है दूसरी विचार या अनुभूति की वाहिनी, पर विचार को या संवेदना को भाषा से अलग नहीं कर सकते। भाषा का यही संवेदनात्मक

और लयात्मक रूप काव्यभाषा में लय का अनविार्य स्थान है। गद्य की भाषा व्याकरण के नियमानुसार चलती है। पद्य की भाषा लय के अनुसार। लय रचना को विशेष आकर्षण, प्रभावकारी तथा संवेदना का वाहक स्वरूप प्रदान करती है, यह काव्यभाषा का अनिवार्य तथ्य है। यही लय तत्व छंद और संगीत की रचना करता है। लय वास्तव में ध्वनि की नियंत्रित और संतुलित गति है। जहाँ पर लय, अधिक नियमित और पुनरुक्तिमय हो जाती है, वहीं छंद का रूप धारण कर लेती है। यह लय वर्ण और मात्रा का आधार ग्रहण करती है। वर्णों के लयाधार से वर्णिक छंद, मात्राओं के लयाधार से मात्रिक छंद बनते हैं जो क्रमशः सम, अद्र्धसम, विषम तीनों भेदों के साथ वर्णन और मात्रा की गणनानुसार असंख्य रूप धारण करते हैं। छंदों में नियमबद्धता और चरणों में मात्रा या वर्णों की पुनरुक्ति होती है। प्रायः चार चरणों का एक छंद माना जाता है। विशम छंद चार से अधिक या कम चरणों का होता है। इसी का अन्य रूप मुक्त छंद है जिसमें लय का आधार रहने पर भी किसी विशिष्ट छंद से मुक्तता रहती है। छंदों का नियम न होने पर भी लयाधार होती है। यही लय किसी रचना में कविता का रूप धारण करती है।

काव्यभाषा भाषा का वह रूप है, जो मूलतः सामान्य भाषा पर आधारित होता है, किंतु जिसमें सटीक चयन, कल्पना के सहारे विचलन, अप्रस्तुत विधान तथा समानांतरता आदि के आधार पर इस प्रकार का संयोजन किया जाता है कि भाषा एक ओर तो सामान्य भाषा की तुलना में सर्जनात्मक, आकर्षक और जीवंत हो उठती है, दूसरी ओर सामान्य भाषा की सीमा का अतिक्रमण कर लक्षणा और व्यंजना के स्तर पर अत्यंत प्रभावी ढंग से भाव बोध जाग्रत करने में और साहित्यकार की अनुभूति को उसकी अधिकाधिक निजता के साथ संप्रेषित करने में समर्थ हो जाती है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत है कि–"काव्यभाषा या साहित्यिक भाषा बोलचाल की वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है। कवि विशेष के अनुभव की अद्वितीयता से संपृक्त होने पर उसकी अर्थ क्षमता में कई प्रकार के अंतर उत्पन्न हो जाते हैं।"[6]

काव्यभाषा प्रायः बिंबात्मक होती है। भाषा की बिंबात्मकता उसे प्रभावशाली बनाने के साथ–साथ रोचक, मधुर और सरल रूप प्रदान करती है। यह हमारी भावनाओं का मूर्तिकरण है। काव्यभाषा सामान्य भाषा की अपेक्षा, कल्पना शक्ति से प्रक्षेपित बिंबों के माध्यम से संप्रेषण कार्य को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। बिंब अनिवार्यतः और प्रधानतः एक अर्थ संश्लेषण हैं जिसके कारण वह रचना में काव्यभाषा या काव्य बनने की मुख्य क्रिया में सहायक होता है। बिंब किसी अनुकृति, कोई भाव, मानसिक घटना या वस्तुओं की तुलनात्मक इकाई तक हो सकता है। केवल उनमें किसी तथ्य को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य होना चाहिए।

काव्यभाषा में कोई भी बात नितांत सीधे और वाच्यार्थ के द्वारा नहीं कही जाती है। उसमें उक्ति का वैचित्र्य, कथन का बांकपन सहित लक्षणा–व्यंजना होती है। अतः वक्रता काव्य भाषा का महत्वपूर्ण तत्व है। भाषा की प्रत्येक इकाई द्वारा भाषा के विशिष्ट प्रयोग से उसकी विलक्षणता या वक्रता या वैचित्र्य अनंत रूपों में प्रत्येक भाषा की रूप रचना, इतिहास, संस्कार और परिवेश के आधार पर प्रकट होती है। भाषा की इकाईयों में सर्वप्रथम वर्ण है जिसके दो रूप होते हैं– प्रथम स्वर, द्वितीय व्यंजन। व्यंजन स्वरों के बिना उच्चारित नहीं होते। वर्ण जब लिखित रूप में ग्रहण होते हैं तब वह अक्षर बन जाते हैं, अक्षर से पद, शब्द, वाक्य आदि बनते हैं। शब्द सार्थक ध्वनि समूह है और वह प्रयुक्त होने पर पद का स्थान प्राप्त करते हैं। पूर्णार्थ की द्योतक ईकाई वाक्य है। इन इकाइयों में भी अनेक रूप हैं जैसे– शब्द, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया विशेषण, उपसर्ग, प्रत्यय आदि। इनका विशिष्ट आकर्षक या चमत्कारी प्रयोग ही भाषा में वक्रता उपस्थित करता है और काव्यभाषा के निर्माण में सहायक होता है।

प्रतीक कवि की ध्यानावस्था से उद्भूत वे तथ्य संकेत होते हैं जो मानव जीवन के धार्मिक मूल्यों का उद्घाटन करते हैं और अपने शब्द रूप में विस्तृत अर्थबोध समाहित किए रहते हैं। उच्चतम एवं आह्लादपूर्ण तीव्र आध्यात्मिक अनुभव, दिव्यसत्ता से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की अनुभूति, रहस्य भावना इत्यादि की अभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है।

उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता साधारण शब्दों तथा रूपकों में नहीं होती। असाधारण भावना एवं अनुभूति का प्रकाशन प्रतीकों के असाधारण माध्यम द्वारा ही संभव है।

काव्यभाषा का वैशिष्ट्य बाह्यतः उसके अलंकृत रूप में भी देखा जा सकता है। चयन और पदक्रम अथवा विन्यास की प्रक्रिया को अलंकरण की दृष्टि प्रभावित करती है। वस्तुतः काव्यभाषा में अलंकार विशिष्ट उपकरणों के तौर पर प्रयुक्त होते हैं। कवि की स्वाभाविक धारणा के अनुसार अलंकार किसी भी विषय को उक्ति वैचित्र्य के रूप में कहने का कार्य अलंकार करते हैं। काव्यभाषा में कवि की सौंदर्यप्रियता के कारण ही विभिन्न अलंकारों का अस्तित्व दिखाई पड़ता है। काव्य में रसों के उत्कर्ष और सौंदर्य का परिवर्द्धन करने वाले उपादान अलंकार ही होते हैं।

काव्यभाषा की विशिष्टता को देखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसके महत्वपूर्ण व्यापारों की ओर संकेत किया है।

(क) अमूर्त अथवा अगोचर भावनाओं को मूर्त अथवा स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास, जहाँ प्रतीकों के सहारे सूक्ष्म भावों का मूर्त विधान किया जाता है।

(ख) अमूर्त को मूर्त रूप देने के लिए काव्यभाषा में जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप से व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं। समान व्यापक अर्थ संकेतों से उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिए वह मर्मस्पर्शिनी विशिष्ट वस्तुओं या व्यापारों को मूर्त करने का आयोजन करती है।

(ग) काव्यभाषा की तीसरी और महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है–वर्ण विन्यास की।

(घ) मूर्त विधान के लिए काव्य में चित्र–विधा काम में आती है। वहाँ नाद–सौंदर्य के लिए संगीत की अपेक्षा होती है। नाद–सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।

(ङ) काव्य की एक सर्वमान्य विशिष्टता है कि वह कहीं–कहीं व्यक्तियों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य बोधक शब्दों का व्यवहार करती है। यथा–दीनबंधु, सव्यसाची, गिरिधर आदि। ये व्यापार संकेत देते हैं साथ ही विशिष्ट अर्थ संदर्भ संकेतित करते हैं।[7]

उपर्युक्त आलोक में कहा जा सकता है कि सामान्य भाषा से उद्भूत होकर भी कविता की भाषा अपनी संरचना और प्रभाव क्षमता में अद्वितीय होती है। सामान्य भाषा यथार्थ जगत से शक्ति को कवि अपनी रचना में सक्रिय बनाता है जिससे पाठक की भावयित्री प्रतिभा जाग्रत होती है और वह कविगत संवेदना की सह–अनुभूति करता है। काव्यभाषा को कवि और समीक्षक दोनों विशिष्ट मानते हैं। इस प्रकार काव्यभाषा अपने संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में अप्रत्याशित प्रयोग के कारण अनुभूति या विचार को आलोक प्रदान करती है।

रीतिकाल में काव्याभिव्यक्ति का माध्यम ब्रजभाषा रही है। ब्रजभाषा का उद्गम 'शौरसेनी अपभ्रंश' से हुआ है। इसका मूल उत्स भले ही भारत का ब्रज प्रदेश रहा तथापि धीरे–धीरे ब्रजभाषा ने साहित्यिक भाषा के रूप में ब्रज प्रदेश के बाहर भी जैसे महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, अवध बुंदेलखंड, राजस्थान आदि क्षेत्रों में भी विस्तार कर लिया। रीतिकाल तक आते–आते अन्य भाषाओं के साथ ब्रजभाषा ही काव्य के लिए श्रेष्ठ मानी जाने लगी।

'ब्रज' शब्द का प्रयोग उस जनपदीय बोली अथवा उपभाषा के लिए किया जाता है जिसका प्रचार–प्रसार ब्रजप्रदेश या ब्रज मंड़ल है। ब्रज शब्द का मूलरूप–ब्रज है, जो संस्कृत धातु ब्रज (जाना) से बना है। जिसका अर्थ है गोस्थल, गोष्ठी, पशु समूह आदि। यह मध्यदेश की भाषा है। केंद्रीय भाषा होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को प्रसार का जितना अधिक अवसर मिला उतना और किसी को नहीं। अत्यंत प्राचीन काल में इस प्रदेश की भाषाएँ अपनी चौहद्दी तोड़कर बाहर फैलती रही और देश के एक वृहद्–भू–भाग के विचार विनिमय और साहित्य सृजन के माध्यम–रूप में व्यवहृत होती रही। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश इसी हृदय देश की भाषाएँ थी। जो अपने अविच्छिन्न रूप में आर्यसभ्यता और संस्कृति के उन्नयन और संरक्षण में निरंतर संलग्न रही।[8]

इस प्रकार ब्रजभाषा विकसित और निश्चित रूप के साथ अत्यंत समृद्ध और समर्थ हो चुकी थी। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मानना है कि "राजपुताने में काव्यभाषा में इसी का व्यवहार होता था। वहाँ के

लोग प्रादेशिक भाषा से अलग करने के लिए इसे 'पिंगल' नाम से पुकारते थे और प्रादेशिक काव्यभाषा को 'डिंगल' नाम से। बुंदेलखंड, शूरसेन और अवध के कवि काव्य भाषा में ब्रजी का व्यवहार करते थे, पंजाब के पूर्वी प्रांतों में यही भाषा थी। बिहार, बंगाल, मध्यभारत, महाराष्ट्र और गुजरात में यही सर्व–सामान्य काव्यभाषा थी।

ऐसे ही डॉ. महेंद्र कुमार का भी ब्रजभाषा के प्रभाव क्षेत्र के विषय में मत है कि–"विक्रम की 14वीं शताब्दी के अंत तक एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लेने के उपरांत ब्रजभाषा रीतिकाल तक आते–आते लगभग तीन शताब्दियों के दीर्घकाल में ब्रजभाषा–भाषी प्रदेश में ही काव्य–रचना का माध्यम नहीं रही अपितु इससे आगे अनेक इतर भाषा–भाषी क्षेत्रों में भी अत्यंत सम्मान के साथ ग्रहण की जाने लगी थी।"[10]

महाकवि द्विजदेव ने अपने काल–परिवेश में साहित्य की प्रतिष्ठित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। श्रृंगार वर्णन में रूप–सौंदर्य काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। काव्य में चक्षु ग्राह्य की प्रधानता होती है। द्विजदेव के रूप बिंब मुख्यतः प्रकृति सौंदर्य और नायिका के अंगों के रूप–लावण्य के द्योतक हैं जैसे–

जाबक के भार पग धरत धरा पैं मंद, गंध–भार कुचन परी हैं धुटि अलकै।....
पानिप के भारन सँभारत न गात लंक, लचि–लचि जाति कच–भारन के हलकै।।[11]

यहाँ कवि कहता है कि नायिका इतनी सुंदर है कि जाबक के भार से उसके पाँव धरती पर मंद–मंद पड़ते हैं। सुगंध के भार से उसके बाल खुलकर कुच मंडल पर बिखर गए हैं। बरोनियों के भार एवं पलकों के कारण नेत्र पूरी तरह खुल नहीं पाते हैं। कटि केश के भार से लचकी जा रही है। इस प्रकार के रूप–बिंबों के चित्रण अन्य रीतिकवियों में भी द्रष्टव्य हैं जैसे–

तन भूषण, अंजन दृगनु पगनु महावर–रंग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिबै ही कौ अंग।।[12]

कवि का वर्णन इतना अधिक सहज स्वाभाविक बन गया है कि कहीं भी संवेदना की तीव्रता गंध बिंब में नहीं होती है। यहाँ बिंब कोमलता, सरसता की अनुभूति को बड़ी ईमानदारी से चित्रित करता है। यहाँ कृत्रिमता प्रतीत नहीं होती है जिसके कारण द्विजदेव प्रभावशाली कवि बने हुए हैं–

चँहकि चकोर उठे, सोर करि भौंर उठे, बोलि ठौर–ठौर उठे कोकिल सुहावने।....
उँमगि अनंद अँसुवान लौ चहूँधाँ लागे, फूलि–फूलि सुमन मरंद बरसावने।।[13]

यहाँ कवि ने प्रकृति का बड़ा मनोहारी व अनुभूति परक वर्णन किया है। ऐसे वणर्नों को देखकर डॉ. महेंद्र कुमार कहते हैं– "अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से द्विजदेव का काव्य भावात्मक है। इनके काव्य बिंबों की रेखाएँ अपने–आप में सूक्ष्म, तरल और उलझाव रहित होने के कारण अनुभूति को सरल और निश्छल ही नहीं बना गई, नवीन उपमानों के प्रयोग से युक्त साम्यमूलक अलंकारों द्वारा उत्पन्न उनकी असाधारण स्पष्टता तथा इतर अलंकारों द्वारा उत्पन्न तद्गत सहज वैशिष्ट्य एवं रंगों के परिष्कृत प्रयोग से कुल मिलाकर कवि रुचि के अभिजात्य और स्वच्छंदता का संश्लिष्ट प्रभाव पड़ता है। +++ छंदों का स्वच्छ एवं विषयानुरूप प्रयोग संगीत–वैचित्र्य द्वारा उसे और भी आकर्षक एवं शक्ति –संपन्न बना गया है।"[14]

स्पर्श बिंब में त्वचा के माध्यम से वर्ण्य–विषय के समग्र सारभूत प्रभाव को मूर्तिमता प्रदान की जाती है। कवि की नायिका प्रिय मिलन को इतनी बेचैन है कि वह गुप्त रूप से अभिसार के लिए जा रही है–

दाबि–दाबि दंतन अधर–छतबंत करै, आपने ही पाँइन कौ आहट सुनति स्रौन।
पंथ ही मैं कंत के जु होत यह हाल तौं पैं, लाल की मिलनि ह्वै बाल की दसाधौं कौन।।[15]

मानव हृदय में उत्पन्न भाव तथा आवेगों को अभिव्यक्त करने के लिए वाणी निरंतर सचेत रहती है। भावाभिव्यंजना के लिए अपने काव्य को अधिक आकर्षक और चमत्कारी बनाने के लिए हम वाणी को अलंकार धारण कराते हैं। परंतु इसका प्रयोग कविता में अनायास होना चाहिए सायास नहीं। द्विजदेव ने अपने काव्य में वाणी का ऐसा विधान किया है जो भावों को नवीन एवं आकर्षक बनाता है। वाणी सौंदर्य के ये उपकरण 'अलंकार' कहलाते हैं। डॉ. महेंद्र कुमार के अनुसार अलंकारों को छः वर्गों में रखा गया है। उन्हीं के अनुसार द्विजदेव के काव्य में वर्णित अलंकारों को छः वर्गों में रखा जा सकता है–

चमत्कारमूलक, साम्यमूलक, औचित्यमूल्क, अतिशयमूलक, वैषम्यमूलक और वक्रतामूलक

खैर! कवि द्विजदेव ने कुछ प्रचलित अलंकारों जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का बड़ा ही सुंदर प्रयोग किया है। जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। मानो, मनु, जनु, जानहु, आदि उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं। द्विजदेव के काव्य में उत्प्रेक्षा का उदाहरण इस प्रकार है–

कटि कछिनी काछै पितंबर की, धरै मोर–पखान को मोरपखा।
'द्विजदेव' जू यौं दुपटी फहरै, मनौं बोलत बिख–बिजे–करखा।।
वह कौन धौ माधुरी मूरति वारौ अली! छवि नैननि जाकी चखा।
बिहरै चहुँधाँ बन–बीथिनी बीच, मनोभव भूप की मानौं सखा।।[16]

यहाँ कृष्ण के अद्वितीय रूप–सौंदर्य में वसंतादि के स्वरूप की संभावना की गई है।

अलंकारों के समान ही द्विजदेव ने काव्य–गुणों का भी बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। गुण का सर्वप्रथम विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय माना है– गुणविपर्ययाद् एषाम् माधुर्योदार्यलक्षणाः'

भरत ने दोषों को शोभा का विधातक एवं गुणों को काव्यशोभा का विधायक तत्व स्वीकार किया है। आचार्य दंडी के अनुसार गुण काव्य के शोभा विधायक धर्म हैं– 'दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा।' अर्थात् शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं।

काव्य गुणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान माधुर्य गुण का होता है। माधुर्य का शब्दार्थ है सरसता, रोचकता, मधुर होने की विशेषता। चित्त का, जिसमें अंतःकरण द्रवित हो जाए ऐसा आनंद विशेष माधुर्य गुण कहलाता है।

द्विजदेव के काव्य में माधुर्य गुण इस प्रकार है–

बिथुरै घनी धारै परी छिति पैं, तिन्हे देखति हूँ नहि ए कछु भीति।
हरि हारे जऊ दुही गाइ तऊ, रही मौंहनी के कर दौहनी रीति।।[17]

यहाँ पर नायक–नायिका के प्रथम दर्शन के समय सात्विक भाव द्वारा प्रेम की तन्मयता का चित्रण किया गया है। नायक का एकटक नायिका को निहारना आदि क्रियाओं के द्वारा माधुर्य गुण की व्यंजना दृष्टिगत होती है।

किसी कवि की भाव–अभिव्यंजना का सर्वाधिक सशक्त माध्यम भाषा है। कवि भावों एवं विचारों को भाषा के द्वारा संप्रेषणीय बनाता है। भाषा की समृद्धि एवं सामर्थ्य शब्द–भंडार और शब्दार्थ लाघव से होती है। छंदों के प्रयोग से भाषा में प्रवाहमयता का संचार होता हैं अलंकार छंदों में झंकार पैदा करते हैं। अतः काव्याभिव्यक्ति को व्यापक एवं तीव्र बनाने में बिंब विधान, अलंकार–योजना, नाद–सौंदर्य, गुण–रीति–वृत्ति, शब्द शक्तियाँ, लोकोक्ति एवं मुहावरों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। अभिव्यक्ति के इन सभी उपादानों से काव्याभिव्यंजना प्रखर एवं कालजयी हो जाती है।

समग्रतः कवि द्विजदेव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के प्रति उनके विशेष आग्रह का कारण यह है कि ब्रजभाषा के माधुर्य, लोचपूर्णता तथा दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुकूल ढाल लेने की क्षमता आदि के कारण यह रीतिकालीन कविता का शृंगार रही है। द्विजदेव की काव्य–भाषा बनावटीपन से कोसों दूर है। कवि का शब्द–भंडार अत्यंत समृद्ध है। उसमें वैदिक संस्कृत भाषा से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश, लोकभाषा, ब्रजभाषा, अवधी तथा विदेशी अरबी–फारसी के अतिरिक्त ठेठ ग्रामीण बोलचाल तक की शब्दावली का समावेश है। द्विजदेव को ब्रजभाषा व्याकरण का ज्ञान बहुत उच्चकोटि का है। चाहे वह उच्चारण के संदर्भ में हो या लिंग, वचन, कारक, सर्वनाम आदि के संदर्भ में। इनके व्याकरण की विशेषता यह है कि इनके काव्य में साहित्यिकता और संगीतात्मकता को बराबर सुरक्षित रखा है।

द्विजदेव का भाषा–सौष्ठव गरिमापूर्ण है। उसमें उत्कृष्ट बिंब–विधान, अलंकार विधान, नाद–सौंदर्य, गुण–रीति–वृत्ति, शब्दशक्तियाँ, मुहावरे एवं लोकोक्तियों के उत्कृष्ट रूपों का सम्मिश्रण है। इनके बिंब–विधान में उनकी सृजनात्मक कल्पना एवं प्रतिभा द्वारा नवीन बिंबों के निर्माण में अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति एवं बहुज्ञता दिखती है। अलंकार–योजना से उनके काव्य में चारूता एवं सरसता का संवर्द्धन हुआ है। नाद–सौंदर्य काव्य में इस प्रकार व्याप्त है जैसे शरीर में प्राण। नाद–सौंदर्य से काव्य में मिठास पैदा हो गई है। गुण–रीति–वृत्ति के प्रयोग से भाषा प्रभावपूर्ण एवं उदात्त बन गई है।

आलोचकों ने इनकी काव्य–भाषा की बड़ी प्रशंसा की है।

डॉ. नगेंद्र ने माना है कि द्विजदेव ने भाषा–परिमार्जन का गुण ग्रहण किया था। भाषा में शृंगार परंपरा के प्रसिद्ध कवियों से भाषा परिमार्जन का गुण ग्रहण किया था। भाषा में शृंगार वर्णन के योग्य लालित्य, माधुर्य और मार्दव की स्थापना करने में ये बहुत से कवियों को पीछे छोड़ गए हैं। अनुप्रास और यमक के मोह में भाषा की सहज अभिव्यंजना पर इन्होंने कहीं भी आघात नहीं आने दिया।"[18] डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी द्विजदेव की भाषाई कलात्मक–सौष्ठव की प्रशंसा करते हुए कहते है "उक्तियों पर इन्होंने वैचित्र्य भी लादा है, किंतु केवल चमत्कार दिखलाने के लिए नहीं उसमें भाव प्रवणता भी है। बल्कि यों कह सकते हैं कि वैचित्र्य भाव व्यंजना में सहायक होकर आया है, वर्ण्य–विषय का रूप निखारने के लिए, उन्हें ढकने के लिए। .... द्विजदेव ने भाषा में जैसी सफाई दिखाई है वह आगे चलकर हरिश्चंद्र आदि समर्थ कवियों में दिखाई पड़ी है।"[19]

इस प्रकार–द्विजदेव की भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा है। उसमें जहाँ ब्रज बोली के ठेठ रूप का त्याग है वहीं संस्कृत शब्द–बाहुल्य का भी अभाव है। संक्षेप में, कथ्य यह है कि संस्कृत प्रधान शब्दावली द्वारा ब्रजभाषा का माधुर्य उनकी भाषा में आहत नहीं हो पाया है। दूसरी विशेषता यह है कि उनकी भाषा में प्रवाह और मिठास में किसी प्रकार की कमी नहीं आ पाई है और भाषा के स्वरूप में साहित्यिकता सर्वत्र विद्यमान है। अतः कहा जा सकता है कि द्विजदेव को अपनी परंपरा से जो काव्यभाषा प्राप्त हुई उसको इन्होंने संस्कारित भी किया।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृत–शब्दार्थ–कौस्तुभ, पृष्ठ संख्या–82

2. संस्कृत 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती। –अमरकोष–अमरसिंह, संपादक श्री मन्नालाल अभिमन्यु, पृष्ठ संख्या–80

3. "व्यक्तवाचस्तत्र प्रकर्षगतिविज्ञास्यते। साधीयों ये वयक्तवाचइति। केचसाधयिः। मेषां वाच्यकारादयो वर्णाः व्यंज्यन्ते। व्यक्ता वाचि वर्णाः येषां व इमे व्यक्तवाचइति।।

–महर्षि पंतजलि– महाभाष्यम्–संपादक डॉ. बाला शास्त्री, पृष्ठ संख्या–23

4. कामताप्रसाद गुरु–हिंदी व्याकरण, पृष्ठ संख्या–1

5. बाबू श्यामसुंदर दास–हिंदी भाषा, पृष्ठ संख्या–17

6. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी–भाषा और संवेदना, पृष्ठ संख्या–13

7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल–रसमीमांसा, पृष्ठ संख्या–41

8. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) संपादक डॉ. नगेंद्र, पृष्ठ संख्या–202

9. पंड़ित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–बिहारी, पृष्ठ संख्या–202

10. डॉ. महेंद्र कुमार–रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्य–शिल्प, पृष्ठ संख्या–421

11. द्विजदेव ग्रंथावली–संपादक विद्यानिवास मिश्र, छंद संख्या–80 पृष्ठ संख्या–70

12. बिहारी रत्नाकार–श्री जगन्नाथदास रत्नाकार, दोहा संख्या 236, पृष्ठ संख्या–104

13. द्विजदेव ग्रंथावली–संपादक विद्यानिवास मिश्र, छंद संख्या–15, पृष्ठ संख्या–46

14. डॉ. कृष्णदेव वर्मा–रीतियुगीन काव्य, पृष्ठ संख्या–604–605

15. द्विजदेव ग्रंथावली–संपादक विद्यानिवास मिश्र, छंद संख्या–136, पृष्ठ संख्या–96

16. द्विजदेव ग्रंथावली–संपादक विद्यानिवास मिश्र, छंद संख्या–85, पृष्ठ संख्या–72

17. द्विजदेव ग्रंथावली–संपादक विद्यानिवास मिश्र, छंद संख्या–112, पृष्ठ संख्या–85

18. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहासः षष्ठ भाग–संपादक डॉ. नगेंद्र पृष्ठ संख्या–411

19. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ संख्या–160–161

– स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, 5, एकलव्य अपार्टमेंट, सेक्टर–13, रोहिणी, दिल्ली–110085

❑❑❑

छंदमुक्त काव्य और नई कविता

डॉ. अमृत कुमार

'छंद' कविता का व्याकरण है तथा 'लय' छंद का अनुशासक है। नई कविता की प्रत्येक रचना का अपना एक निजी और विशिष्ट छंद है, जो उसमें व्यक्त अनुभूति की अनिवार्यता से उसी के साथ जन्मा है, जैसे जीवधारी की देह जन्मती है। नई कविता की हर रचना में नया कवि एक भिन्न विशिष्ट छंद देखना चाहता है जिसका तात्पर्य यही है कि उसकी दृष्टि में नियत वर्णों और मात्राओं का पहले से ही बना–बनाया साँचा मात्र नहीं है जिसके इस्तेमाल का अभ्यास करके वह उसे अपना सके। कविता में छंद के प्रति इसी दृष्टि को छंदमुक्त की दृष्टि कहा जाता है। वस्तुतः जिस विषम छंद में वार्णिक या मात्रिक प्रतिबंध न हो, न प्रत्येक चरण में वर्णों की संख्या और क्रम सामान हो और न मात्राओं की कोई निश्चित व्यवस्था हो तथा जिसमें नाद और ताल के आधार पर पंक्तियों में लय लाकर उन्हें गतिशील करने का आग्रह हो, वह छंदमुक्त है।

छंदमुक्त की प्राचीनता वेदों से सिद्ध की जाती रही है। शमशेर बहादुर सिंह कहते हैं, "वैदिक मंत्र स्वरोच्चारण के जिन नियमों से हमेशा के लिए बाँध दिए गए हैं, वे उनका मुक्त प्रभाव स्पष्ट घोषित करते हैं।"[1] वेदों में काव्य की मुक्ति के हजारों उदाहरण देखे जा सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से छंदों के दो भेद माने जाते हैं वैदिक और लौकिक। वैदिक छंदों का यद्यपि हिंदी में कोई प्रयोग नहीं हुआ है किंतु इसका प्रभाव हिंदी की छंदमुक्त कविताओं में मिलता है क्योंकि जिस प्रकार एक ही लय के आधार पर उस युग में चरण विस्तार की सुविधा थी उसी प्रकार आधुनिक छंदमुक्त में भी एक ही लय के आधार पर विभिन्न सीमाओं तक चरण विस्तार का प्रयोग होता है। नागार्जुन कहते हैं, "छंदमुक्त की परंपरा भले ही वैदिक छंद में ही ढूँढ ली जाए किंतु नई कविता के लिए प्रयुक्त छंदमुक्त आधुनिक युग की ही उपज है।"[2]

हिंदी कविता में छंदमुक्त विद्रोह का प्रतीक है। छंदमुक्त को मजाक में रबड़ छंद, केचुआ छंद और कंगारू छंद भी कहा गया है। हिंदी में मुक्तछंद का अर्थ अंग्रेजी के 'ब्लैंकवर्स' (Blank Verse) के समानार्थी है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और सुमित्रानंदन पंत ने हिंदी कविता में छंदमुक्त को स्थापित किया है। वस्तुतः निराला छंदमुक्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। निराला ने परिमल की भूमिका में लिखा है, "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। मुक्त काव्य (छंदमुक्त काव्य) कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किंतु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।"[3] छंदमुक्त को और स्पष्ट करते हुए निराला लिखते हैं, "मुक्त छंद वह है, जो छंद की भूमिका में रहकर भी मुक्त है। मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रभाव ही है।

वही उसे छंद सिद्ध करता है और उसका नियमरहित उसकी मुक्ति।"[4] 'जूही की कली' निराला की छंदमुक्त में रचित सबसे महत्वपूर्ण कविता है,

विजन–वन–वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह–स्वप्न–मग्न–अमल तन तरुणी
जूही की कली
दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में।[5]

निराला के द्वारा हिंदी में छंदमुक्त के प्रवर्तन को एक क्रांतिकारी भूमिका के रूप में देखा जाता है। निराला छंदमुक्त को मन का सहज प्रकाशन मानते हैं क्योंकि वह निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र है। निराला कृत 'तुलसीदास' कविता का छंद भी उनका अपना आविष्कार है। छंदमुक्त के रूप में 'राम की शक्ति पूजा' में भी निराला ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है ,

प्रतिपल–परिवर्तित–व्यूह–भेद–कौशल–समूह–
राक्षस–विरुद्ध–प्रत्यूह–क्रुद्ध–कपि–विषम–हूह,
विच्छुरितवह्नि–राजीवनयन–हत–लक्ष्य –बाण,
लोहितलोचन–रावण–मदमोचन–महीयान,[6]

निराला ने अपने छंदमुक्त के प्रयोगों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिखाया कि छंदों के परंपरित और रूढ़ व्यवहारों को बिना अपनाए भी काव्य में लयात्मकता और संगीतात्मकता को सुरक्षित रखा जा सकता है। पंत भी बाद में छंदमुक्त आंदोलन से जुड़े और कहा,

खुल गए छंद के बंध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त
औ युगवाणी बहती अयास।[7]

पल्लव की भूमिका में पंत ने भी छंदमुक्त की प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए कहा है, "यह स्वच्छंद ध्वनि तथा लय पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मंद, गति उतार में क्षिप्रवेग धारण करता आवश्यकतानुरूप अपने किनारों को काटता–छाँटता, अपने लिए ऋजु–कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छंद भी कल्पना तथा भावना के उत्थान–पतन, आवर्तन–निवर्तन के अनुरूप संकुचित–प्रसारित होता, सरल –तरह, ह्रस्व–दीर्घ गति बदलता रहता है।"[8] छंदमुक्त की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। वस्तुतः मुक्त काव्य आतंरिक ऐक्य, भाव जगत के साम्य को ढूँढ़ता है।

नई कविता में छंद से मुक्ति के हम अनेक स्तर देख सकते हैं। नए छंद विधान की कल्पना विनयपत्रिका के बाद मानो समाप्त हो गई थी। इस क्षेत्र में नए–नए प्रयोगों की शुरुआत भारतेंदु युग में ही संभव हो गई थी। द्विवेदी युग में इस प्रवृत्ति का विकास और तेजी से हुआ। वस्तुतः तुकों से छंद की मुक्ति तो द्विववेदी युग से ही प्रारंभ हो गई थी, लेकिन पूर्ण मुक्ति का कार्य बहुत कुछ बाकी था और उसे छायावाद के निराला ने पूरा किया लेकिन छायावाद में भी छंदमुक्त एकमात्र महत्वपूर्ण छंद के रूप में अपनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका। तार सप्तक के काल में आकर ही छंद में नए–नए प्रयोगों को सतर्कतापूर्वक ग्रहण करने की प्रवृत्ति कवियों में मिलती है। तार सप्तक के कवियों ने भी छंदमुक्त को लेकर प्रर्याप्त महत्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, आदि सभी के प्रयोगों ने छंदमुक्त को विकसित किया है। तार सप्तक तक आते–आते छंदमुक्त काव्य में स्वीकृत हो चुका था तथा अनिवार्यता का रूप भी धारण कर लिया था। जिन परिस्थितियों ने हिंदी कविता में छंदमुक्त के विरोध को जन्म दिया बाद में चलकर छंदमुक्त के गतिशील विकास के साथ वे स्थितियाँ ढीली पड़ती गईं और छंदमुक्त की सत्ता को स्वीकार भी किया गया। नई कविता तक आते–आते छंदमुक्त ने यह अन्यतम स्तर और मान पा लिया था। अज्ञेय लिखते हैं–

मैं मौन–मुखर, सब छंदों में,
उस एक निर्वच, छंदमुक्त को जाता हूँ।[9]

नए कवि की दृष्टि में तो छंदमुक्त का वास्तविक रूप नई कविता के जमाने में ही उपलब्ध हो सका है। जगदीश गुप्त के अनुसार, "निराला के स्वप्न को अंशतः प्रयोगवाद और लगभग पूर्णतः नई कविता ने साकार बना दिया।"[10] नई कविता तक पहुँचकर छंदमुक्त में न तो निश्चित वर्ण और

मात्राएँ आवश्यक रह गईं और न अन्त्यानुप्रास और न पारस्परिक छंदों का आधार। उसमें यदि कुछ आवश्यक रह गया तो केवल लय और वह भी आतंरिक या अंतवर्ती लय। इसलिए सामान्य स्तर पर छंदमुक्त की परिभाषा हुई कि वह छंद जिसमें लयाधार तो निश्चित रहता है किंतु चरणों की संख्या का विस्तार अनिश्चित होता है। नई कविता के कवियों ने शिल्प के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रांति छंद को लेकर ही की है। उन्होंने छंदमुक्त को आत्मीयता से अपनाया और इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की। वस्तुतः छंदमुक्त नई कविता का प्राणाधार है। अज्ञेय लिखते हैं–

मैं खड़ा खोले कटिबंध पिंगल के,
मुक्त मेरे छंद, भाषा मुक्तवर है,हैं मुक्ततम
मम भाव पागल के।[11]

पश्चिमी देशों के आधुनिक काल में 'फ्री वर्स' या मुक्त छंद की काफी चर्चा हुई है। टी. एस. इलियट मानते हैं कि जो कवि अच्छी कविता लिखना चाहते हैं उसके लिए किसी प्रकार की कविता मुक्त नहीं हो सकती। उन्होंने यह भी लिखा है कि छंदमुक्त के नाम पर ढेर सारा रद्दी गद्य लिखा गया है। नई कविता ने छंद के बंधन को इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि वह अनुभूति को सही–सही संप्रेषित करने में इसे बाधक मानते हैं। अज्ञेय का कहना है कि, "कवि जब छंद को अमान्य करता है तब उसके सामने वह मात्रिक बंधन के रूप में होता है जो शब्द कि अर्थवत्ता को क्षीण करता है।"[12] नई कविता में छंदमुक्त की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं–

1. चरणों की अनियमितता।
2. भावों के अनुसार यति।
3. असमान स्वच्छंद गति।
4. प्रवाह की अखंडता।
5. तुक अभाव।
6. बाह्य एकता के स्थान पर आंतरिक एकता।
7. गद्य के समीप वाक्य योजना।
8. निश्चित लयपर्व का प्रयोग।

छंदमुक्त को प्रायः छंदहीन और लयहीन बताना ठीक नहीं है। इस संदर्भ में गिरिजाकुमार माथुर का वक्तव्य पठनीय है, "कविता छंद से तो मुक्त हो सकती है किंतु लय से उसकी मुक्ति संभव नहीं है।"[13] छंदमुक्त में लय वैविध्य भी मिलता है। इसका कारण यह है कि छंदमुक्त भावाभिव्यक्ति के लिए किसी गाँठ को स्वीकार नहीं करता है। तार सप्तक के कवियों ने घोषणा की थी कि प्रवाह या लय को छंदमुक्त का एकमात्र आधार कहा जा सकता है। तार सप्तक के कवियों के अनुसार छंद में यति–गति, मात्रा, लघु–गुरु, आदि के बंधन से ही छंद की प्रभाव क्षमता नहीं होती बल्कि उसमें लय की स्वाभाविक गतिशीलता ही उसे प्रभावपूर्ण बनाती है। इस प्रकार लय इन कवियों की दृष्टि में छंद का अनिवार्य तत्व है। छंदमुक्त को गद्यपरक न बनने देने के लिए लय का होना परमावश्यक है।

नई कविता के छंदमुक्त में लय की आवश्यकता पर प्रभाकर माचवे लिखते हैं, "जिस हिंदी कविता की हम चर्चा करने जा रहे हैं, उसमें सूक्ष्म छंदोलय आवश्यक है ही। उसके बिना वह पद्य न रहकर गद्य रचना बन जाएगी।"[14] नई कविता में छंदमुक्त निश्चित लय के साथ भी चलती है और विविध लयों के साथ भी। निश्चित लयादर्श को मानकर लिखी गई कविताओं में चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक, षट्मात्रिक, आदि लय देखी जा सकती है। लयहीन छंदमुक्त में कहीं–कहीं तुक भी होती है। लयात्मक यति से छंदमुक्त में संतुलन अथवा अंतः संगठन आ जाता है। ध्वनि–सामंजस्य, स्वर–संधान अथवा लयादर्श की आवृति को छंदमुक्त का दूसरा उपकरण माना जाता है लयात्मक यति के बाद। छंदमुक्त में अन्त्यानुप्रास आवश्यक नहीं है, किंतु वह सर्वथा त्याज्य भी नहीं है। एक कविता में एक ही छंदमुक्त का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही माना जाता है क्योंकि एक से अधिक छंद–प्रकारों का प्रयोग विविध लय–खंडों को जन्म देगा जिससे कविता के प्रवाह में हानि पहुँचेगी। अज्ञेय भी छंदमुक्त कविता में लय का स्थान प्रमुख मानते हैं जो उनकी कविताओं में द्रष्टव्य होता है,

"अंधकार था
सब कुछ जाना
पहचाना था
छुआ कभी न गया हो, फिर भी

सब कुछ की सन्यति थी।
संहति थी
स्वीकृति थी।[15]

वस्तुतः नई कविता में जो छंदमुक्त प्रयुक्त हुआ है वह लय छंद है और वह भी तीन तरह का–शब्द लय, अर्थ लय और भाव लय। नई कविता में जो लोग शब्द लय नहीं स्वीकार करते हैं वे उसके गद्यात्मक रूप पर बल देते हैं। छंदमुक्त के अधिकाधिक प्रयोग के कारण नई कविता को केवल गद्यात्मक समझे जाने की भ्रांति को मुक्तिबोध ने नई कविता में छंदमुक्त के बचाव में लिखा है, "रोमांटिक कवियों की भाँति आवेशयुक्त होकर आज का कवि भावों के अनायास, स्वच्छंद, अप्रतिहत प्रवाह में नहीं बहता है। इसके विपरीत वह किन्हीं अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करता है। मानसिक प्रतिक्रिया हमारे आभ्यंतर में गद्यभाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य भाषा नहीं। फलतः नई कविता का पूरा विन्यास गद्यभाषा के निकट है।"[16] वस्तुतः आधुनिक युग की नई कविता गद्य भाषा के अधिक समीप है।

नई कविता तक पहुँचते–पहुँचते हिंदी कविता गेय या श्रव्य कम रह गई और पाठ्य और दृश्य अधिक हो गई। नए कवियों के द्वारा लिखे गए गीतों को छोड़ दिया जाए तो पूरी की पूरी नई कविता छंदमुक्त में लिखी हुई है। छंदमुक्त में कुछ कवियों ने तो लय का ध्यान रखा है और गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवियों ने लयाधारों को लेकर कुछ प्रयोग भी किए हैं, लेकिन अधिकांश कवियों ने लयमुक्त या खंडितलय वाले छंदमुक्त कविता की है जिसे गद्य की तरह पढ़ा जा सकता है। नई कविता के प्रमुख कवि शमशेर बहादुर सिंह ने भी ऐसी कविताएँ लिखीं हैं जो गद्य की तरह पढ़ी जा सकती है। 'राग' कविता का निम्नलिखित उदाहरण इसी बात की पुष्टि करता है,

उसने मुझसे पुछा, तुम्हारी कविताओं का क्या मतलब है?
मैंने कहा–कुछ नहीं।
उसने पूछा–फिर तुम इन्हे क्यों लिखते हो?
मैंने कहा–ये लिख जाती हैं। तब
इनकी रक्षा कैसे हो जाती हैं?
उसने क्यों यह प्रश्न किया?[17]

वस्तुतः शमशेर की अधिकतर रचनाएँ छंदमुक्त में हैं। उन्होंने अपनी छंदमुक्त रचनाओं में विशिष्ट फॉर्म ईजाद किया है। इस फॉर्म की सजगता के कारण उनकी कविता दूसरों से अलग दिखती है। अपनी छंदमुक्त रचनाओं में कहीं कोई गीत देना, उनके फॉर्म की विशेषता है। 'टूटी हुई बिखरी हुई' छंदमुक्त में कही गई उनकी ग़ज़ल है। इस छंदमुक्त रचना में वस्तुतः ग़ज़ल की आत्मा झलकती है।

छंदमुक्त के संदर्भ में निराला ने पाठककला की बात की है । पाठककला की बात नई कविता में भी की जाती है, लेकिन कई बार कवि स्वयं अपनी कविता को वैसे नहीं पढ़ पाता,जैसे वह छपती है। कंठ से उतरकर कविता जब कागज पर मुद्रित होने लगती है तो वह दृश्य भी हो जाती है। निराला मानते हैं कि कविता ऐसे छपने लगी है कि उसे उच्च स्वर में न पढ़ा जा सके,केवल देखा जा सके या फिर मुद्रित शब्दों को पढ़ते चलें और शब्देतर चिन्हों को बताते चलें। जैसे ,

माँ....चा SSS की SSS प्याली
पा....पा SSS की जेब खाली
स्ले....ट की.... पर्त खाली
ले SSS ट
फी SSS
नाम स्कूल से कट गया।[18]

छंदमुक्त को नागार्जुन तीव्र आवेग की सहज उपलब्धि मानते हैं। उनके अनुसार मुक्तछंद दो प्रकार के हैं। पहला, सुसंयत मुक्त छंद, जिसका आधार कोई–न–कोई पारंपरिक छंद होता है और दूसरा, असंयत मुक्त छंद जो मात्राओं के बंधन से बिल्कुल अलग। वस्तुतः नागार्जुन छंदमुक्त की कविता के महत्व के लिए उसमें नाटकीयता के गुण का समावेश आवश्यक मानते हैं। उनकी धारणा है कि छंदमुक्त कविता भी अगर नाटकीय बातचीत से संपन्न हो तो लोगों की जुबान पर चढ़ जाएगी। जैसे–

ओ रे प्रेत :–
कड़ककर बोले नरक के मालिक यमराज
सच–सच बतला

कैसे मरा तू?
भूख से, अकाल से?
……
कैसे मरा तू, सच–सच बतला?[19]

वस्तुतः छंद के प्रति नए कवियों की दृष्टि निश्चित रूप से नवीन है। छंद उसके लिए कृत्रिम ढाँचा मात्र नहीं होता जिसके कुछ बँधे–बँधाए नियम होते हैं। इसलिए वह बने–बनाए छंदों में कविता करना अनिवार्य नहीं मानता। नए कवि की दृष्टि में छंद की अपनी एक ख़ास जरूरत विशिष्टता होती है, जिसमें शब्द स्वर और पदगतियाँ, परंपरा से हटकर एक नवीन अवधारणा की सृष्टि होती है।

गजानन माधव मुक्तिबोध की अधिकतर रचनाएँ छंदमुक्त हैं, उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। मुक्तिबोध ने जिस छंदमुक्त का विधान किया है वह निराला के ठेठ मुक्त छंदों से हाथ मिलाकर आगे जाता है। वही सीधी अभिव्यक्ति, तरल मानवीय व्यंजना मगर उससे अधिक भी कुछ। जैसे–

रवि का प्रकाश
शशि का विकास
पुंसत्वहीन नर का विलास
ये सूर्य चंद्र
नभ–वक्ष लुब्ध
वे अमित वासना के शिकार।[20]

छंदमुक्त के क्षेत्र में अज्ञेय ने अनेक प्रयोग किए हैं। उन्होंने लघु, मध्य और दीर्घ पंक्तियों वाले छंदों का प्रयोग किया है। उन्होंने लयांविति से युक्त मुक्त छंदों का भी प्रयोग किया है। वह छंदमुक्त को सहज, स्वयंभू छंद मानते हैं, जिसका प्राण लय होती है ,

तुम हँसी दो
जो न मेरे ओंठ पर दिखे
मुझे हर मोड़ पर मिलती रही है
धूप
मुझ पर जो न छाई हो ,
किंतु जिसकी ओर
मेरे रुद्ध जीवन की कुटी की
खिड़कियाँ खुलती रहीं हैं।[21]

भावों और संवेदनाओं के साथ ही अज्ञेय का छंद विधान भी बदलता रहा है। अज्ञेय के छंदमुक्त पर अंग्रेजी के आधुनिक छंद प्रयोग विशेषतः इलियट की प्रलंबित पुनरावृति वाली टेकनीक का तथा लारेंस की भाव वेशमय गद्यात्मक ध्वनि चित्रण पद्धति का बहुत सूक्ष्म रूप से प्रभाव पड़ा है ।

प्रभाकर माचवे ने छंदमुक्त के स्वरूप (नई कविता में), आदि पर विस्तार से विचार किया है। छंदमुक्त को वह एक स्वतंत्र और नवीन छंद विधान के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार छंदमुक्त छंद का एक ऐसा स्वतंत्र रूप है जो विषयानुसारी होता है। भारतभूषण अग्रवाल कहते हैं, "नई कविता में जब कवि अपनी छंदमुक्त कविता सुनाता है तो सारे शब्द एक बार ही नहीं उगल देता, वह अनेक स्थानों पर रुकता है, अनेक शब्दों पर बल देता है और बीच–बीच में मौन का भी सहारा लेता है। वस्तुतः जितने शब्द कवि एक बार में सुनाता है, वे सब एक पंक्ति में रखे जाने चाहिए।"[22] जगदीश गुप्त पाठ–विधि की ओर संकेत करते हैं और कहते हैं कि, "यह पाठ विधि छंद की तरह जड़ मात्रिक क्रम से नियोजित न होकर स्वर के आरोह–अवरोह पर आश्रित रहती है जिसका निश्चय 'अर्थ की लय' करती है।"[23] वस्तुतः नई कविता में शब्द लय और छंद का इसी दृष्टि से ग्रहण हो रहा है, फलतः उसका रूप बहुत ही प्रचलित परंपरागत कविता से भिन्न दिखाई देता है। नई कविता में यह जरूरी भी नहीं है कि छंदमुक्त की पंक्तियाँ विरामांत ही हों, धारावाहिक भी हो सकती हैं। गिरिजाकुमार माथुर लिखते हैं, "मुक्त छंद का मैंने संपूर्ण विधान रचा है। एक कविता में एक प्रकार का छंदमुक्त प्रयुक्त होना आवश्यक समझा जाता है। यदि उच्चरित वर्ण विन्यास (सिलेबल) से पंक्ति आरंभ हुई तो समस्त पंक्तियाँ उच्चरित से ही प्रारंभ होनी चाहिए। विरामांत पंक्तियों में यह नियम अनिवार्य कर दिया है। धारावाहिनी पंक्तियों में भी प्रथम पंक्ति का अर्ध विराम द्वितीय पंक्ति में लेने का नियम रखा है। पंक्तियों के विरामों की ध्वनि मात्रा में पूर्णतः सम एवं शुद्ध होना अत्यंत आवश्यक है। इन नियमों के विरुद्ध लिखा गया

छंदमुक्त अशुद्ध मानता हूँ।"[24] वस्तुतः माथुर जी ने अपने छंदमुक्त के तंत्र में ही कविताएँ ढालने का प्रयास किया है। नई कविता के नए कवियों की छंदमुक्त के स्वरूप संबंधी चर्चा की विशेषता यह है कि तुकांत का उन्होंने खुल कर विरोध किया है और लय का प्रबल पक्ष लिया है।

नई कविता के प्रमुख कवि रघुवीर सहाय की बाद की कविताओं में छंद का बंधन और तुक की अनिवार्यता पूर्ण रूप से समाप्त हो गई है। जैसे– 'अपने आप और बेकार' कविता में,

लोग लोग लोग चारों तरफ हैं मार तमाम लोग
खुश और असहाय
उनके बीच मैं सहता हूँ
उनका दुःख
अपने आप और बेकार।[25]

रामविलास शर्मा तो किसी भी छंद का अर्थ चाहे वह छंदमुक्त ही क्यों हो –भाषा को गति–लय के बंधन से नियंत्रित करना ही मानते हैं। नई कविता के कवियों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता में छंदमुक्त प्रधान तत्व है, किंतु उनकी तुकांतता और लय से कविता में संगीतात्मकता का समावेश हो जाता है। कुंवर नारायण मानते हैं कि सर्वेश्वर इसी तरह छंदों और तुकांतों की दुनिया में इत्मीनान से विचरण करते हैं। वस्तुतः नए कवियों में उर्दू, अंग्रेजी, आदि विभिन्न योजना के छंद योजना के साथ–साथ छंदमुक्त को भी स्वीकार किया है। धूमिल की आरंभिक रचनाएँ 'गीत' और 'चौपाया' छंदबद्ध कविता है, किंतु उनकी बाद की रचनाएँ छंदमुक्त हैं। नई कविता के कवियों की भाँति धूमिल छंदमुक्त कविता में लय लेकर ही नहीं अपितु एक गद्यात्मक और प्रवाहमयता लेकर चले हैं। धूमिल की अधिकांश कविताओं में छंद जैसी लयबद्धता सहजता से देखी जा सकती है। जैसे–

अपने यहाँ संसद
तेल की वह धानी है
जिसमे आधा तेल है
और आधा पानी है।[26]

नई कविता के कवियों में धूमिल के अलावा दुष्यंत कुमार ने भी छंदमुक्त और लयबद्ध कविता लिखी है, जैसे – 'आवाजों के घेरे', 'सूर्य का स्वागत', आदि। छंद का आनंद सीमा का आनंद है और छंदमुक्त का आनंद असीमता का आनंद है। छंदमुक्त की गति विषम होती है तथापि वह "एक ही साम्य के अपार सौंदर्य की अभिव्यक्ति करता है।" वस्तुतः आज नई कविता के कई कवियों ने एक ही लय में रची गई कविताओं का ढेर लगा दिया है और कविता छंदमुक्त के नाम पर निरा गद्य होती जा रही है परंतु छंदमुक्त की कविताओं का भावबोध नया होने के साथ–साथ काव्य में अनुभूति और संवेदना के नए धरातल का विकास भी किया है।

नई कविता में बहुप्रचलित छंदमुक्त में प्रवाह की तारतम्यता, असमान स्वच्छंद गति, भावानुकूल यति, चरणों की अनियमितता और तुक की गौणता आदि का विशेष ध्यान रखा गया है। नई कविता में लघु पंक्ति वाले छंदमुक्त से लेकर दीर्घ पंक्ति वाले छंदमुक्त तक व्यवहृत हुए हैं। छंदमुक्त के साथ लय का संबंध अनिवार्य मानते हुए नए कवियों ने काव्य–शिल्प के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । छंदमुक्त एक ऐसी ऐतिहासिक आवश्यकता है जो कविता में चल रही परंपरित जड़वादिता की धारा को तोड़कर खुलापन और उन्मुक्तता चाहती है। वस्तुतः छंदमुक्त और नई कविता एक दूसरे के पर्याय हैं। नई कविता के कवियों की दृष्टि में छंदमुक्त किसी किस्म का आसान रास्ता या चमत्कार प्रदर्शन की वस्तु न होकर अभिव्यंजना का एक अनिवार्य तत्व है। छंदमुक्त नई कविता के युग–परिवेश से उपजी एक अनिवार्यता है ताकि वह मुख्य रूप से आधुनिक कविता को युग के संवाहक के रूप में समर्थ बना सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दोआब, शमशेर बहादुर सिंह, पृ.59
2. मेघदूत, नागार्जुन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014, पृ.10
3. परिमल, भूमिका, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ.12

4. परिमल, भूमिका, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ.13

5. राग विराग, संपा. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007, पृ. 40

6. राग विराग, संपा. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007, पृ.92

7. युगवाणी, कविता–नवदृष्टि, सुमित्रानंदन पंत, पृ. 03

8. पल्लव, भूमिका, सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 43,

9. आँगन के पार द्वार, अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,काशी, संस्करण 1961, पृ. 39

10. धर्मयुग, फरवरी 1973, संपा. धर्मवीर भारती, पृ. 18

11. तार सप्तक,संपा. अज्ञेय ,भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ.284

12. तार सप्तक, संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 306

13. नई कविताः सीमा और संभावनाएँ, गिरिजाकुमार माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1973, पृ. 124

14. संतुलन, प्रभाकर माचवे, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण 1954, पृ. 117

15. आँगन के पार द्वार, अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,काशी, संस्करण 1961, पृ.18

16. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, मुक्तिबोध, पृ. 11

17. प्रतिनिधि कविताएँ, शमशेर बहादुर सिंह,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 58

18. अतुकांत, लक्ष्मीकांत वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1968, पृ. 38

19. नागार्जुन रचनावली, खंड 1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2011, पृ. 170

20. तार सप्तक, मुक्तिबोध, पृ. 23

21. इंद्रधनु रौंदे हुए थे, कविता–तुम हँसी दो, अज्ञेय, पृ. 34

22. पूर्वाग्रह, अंक–7, संपा. अशोक वाजपेयी, मार्च–अप्रैल 1975, पृ. 45

23. नई कविताः स्वरूप और समस्याएँ, डॉ. जगदीश गुप्त, पृ. 90

24. आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ एक पुनर्मूल्यांकन, गणेश खरे, पुस्तक संस्थान, कानपुर, संस्करण 1976, पृ. 68

25. रघुवीर सहाय, रचनावली 1, आत्महत्या के विरुद्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2000, पृ.119

26. पटकथा, संसद से सड़क तक, धूमिल, पृ.64

– एफ–205/1, मुनिरका, नई दिल्ली–110067

❑❑❑

हिंदीतर भाषी वरिष्ठ बालसाहित्यकार डॉ. शकुंतला कालरा का साक्षात्कार

डॉ. वेद मित्र शुक्ल

उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ द्वारा प्रदत्त बालसाहित्य के क्षेत्र में देश के सर्वोच्च सम्मान 'बालसाहित्य भारती' दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी बोर्ड एवं संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के बालसाहित्य के सर्वोच्च सम्मान 'बालसाहित्य श्री सम्मान' तथा हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार के 'साहित्यकार कृति सम्मान' सहित देश की दो दर्जन से अधिक सरकारी एवं गैर–सरकारी संस्थाओं द्वारा सम्मानित–पुरस्कृत हिंदीतर भाषी डॉ. शकुंतला कालरा ने हिंदी की प्रचुर सेवा की है। अविभाजित भारत के बक्खर शहर में (अब पाकिस्तान में), जन्मी डॉ. शकुंतला कालरा की मातृभाषा 'सिरायकी' है जो पाकिस्तान के मुल्तान और आसपास के इलाकों में बोली जाती है। पाकिस्तान में 'सिरायकी विश्वविद्यालय' भी है। डॉ. कालरा एक बहुआयामी साहित्यकार हैं। उनकी प्रौढ़साहित्य में आलोचना की पाँच पुस्तकें, तीन कविता–संग्रह, एक कहानी–संग्रह, एक निबंध–संग्रह और एक यात्रावृत्तांत आदि पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। दो साहित्यिक साक्षात्कारों की पुस्तकें तथा बालसाहित्य क्षेत्र में उनका योगदान अद्वितीय है। वह वरिष्ठ तथा बालसाहित्यकार हैं, जिनकी सात बालकहानी–संग्रह, सात बालकविता–संग्रह और एक उपन्यास आदि सृजन–क्षेत्र की बहुचर्चित कृतियाँ हैं। बालसाहित्य में आलोचना में भी उनकी तीन पुस्तकें – हिंदी बालसाहित्य विचार और चिंतन, हिंदी बालसाहित्य आधुनिक परिदृश्य और हिंदी बालसाहित्य के अनन्य साधक शोधार्थियों में अपनी उपादेयता के लिए बड़ी प्रशंसित हुई हैं। आपने आलोचनात्मक साहित्य के साथ वर्तमान में साक्षात्कार विधा को विशेष पहचान दी है, जिससे बालसाहित्य की भाँति हिंदी में बालसाहित्यकार को भी वह पहचान मिल पाई जो बड़ों के साहित्यकार को मिलती है। इससे दोनों का कद बढ़ा है। 'हिंदी बालसाहित्य–विमर्श' और 'हिंदी बालसाहित्य : जिज्ञासाएँ और समाधान' साक्षात्कारों की दोनों किताबें विशेष रूप से चर्चित रही हैं। बालसाहित्य और बालसाहित्यकारों के अवदान को भी प्रकाश में लाने में उनका कार्य अत्यंत सराहनीय है। इस क्षेत्र में उनकी दस संपादित पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने 'आधुनिक कविता,' दिल्ली विश्वविद्यालय बी.ए. (द्वितीय वर्ष) पाठ्यक्रम की पुस्तक का भी संपादन किया है। संपादन के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक है– 'हिंदी बालसाहित्य विधा–विवेचन' जो बालसाहित्य की विधागत विकास–यात्रा का इतिहास प्रस्तुत करती है। इसमें विधा के स्वरूप और उसके विकास पर विषय के विशेषज्ञ अधिकारी विद्वानों के अत्यंत सारगर्भित विद्वतापूर्ण आलेख हैं, जिनमें शोधार्थियों को एक साथ एक ही जगह बालसाहित्य में शोध के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

आइए जानते हैं उस बालसाहित्यकार के अपने बचपन को और उनके साहित्य लेखन की

प्रेरणा को, उनके परिवेश को, उन परिस्थितियों को जिनसे जूझते हुए वह हारी नहीं। 1947 के पाकिस्तान–हिंदुस्तान के विभाजन और विस्थापन के दर्द को कैसे बिना विचलित हुए हिम्मत से सहा। इन्हीं विषम परिस्थितियों में कैसे एक साहित्यकार में लेखन–प्रतिभा के बीज अंकुरित हो रहे थे। जो समय पाकर पल्लवित–पुष्पित और फलित हुए। जिन्होंने बच्चों के लिए लिखा। उनके बचपन और उनके मन में प्रवेश करके लिखा। मैं ऐसे बालसाहित्यकार के बचपन में प्रवेश करना चाहता था कि वे स्वयं बचपन में कैसी थीं? उनका स्वभाव, उनकी रुचियाँ, उनके खेल–कूद, उनकी पसंद–नापसंद क्या थी? क्या वह भी सामान्य बच्चों की तरह थीं या विलक्षण थीं? आइए मिलते हैं एक बालसाहित्यकार के अंतस् के बच्चे से–

वेद मित्र शुक्ल – मैडम, सन् 1947 के भारत–विभाजन से उपजे विस्थापन के दर्द को आपने अपने बालवय में जिया। उस समय के कई अनुभवों को आपने आत्मकथा में पाठकों के साथ साझा भी किया है। आपके अनुभव के माध्यम से पाठक यह जानना चाहेंगे कि एक बच्चे के लिए विभाजन और विस्थापन क्या होता है?

डॉ. कालरा– वेद जी, आपने ठीक कहा। मैंने अपने उन दिनों के कटु अनुभवों को अपनी आत्मकथा में लिखा है। आज उन्हें याद करने में भी तकलीफ होती है। मेरा बचपन और मेरे साथ सभी विस्थापित शरणार्थी–परिवारों के बच्चों का अर्थ है उस समय के पूरे बचपन को याद करना। वेद जी, हम सब जानते हैं कि बचपन जीवन–यात्रा का सबसे खूबसूरत पड़ाव होता है। बचपन के साथ सबका गहरा लगाव होता है। व्यक्ति का मन करता है कि काश वह बचपन में लौट सके। लेकिन अपनी जन्मभूमि से विस्थापित शरणार्थी–परिवारों के बच्चों ने उस बचपन को एक दुःस्वप्न की तरह जिया है जिसकी आवृत्ति की इच्छा उन्हें कभी नहीं होगी। उनका बसेरा छिन गया था। उनके संगी–साथी बिछुड़ गए। कहीं बसेरे के साथ बच्चों ने माता–पिता खो दिए थे, तो कहीं माता–पिता ने बच्चे। विभाजन की त्रासदी ने असंख्य बच्चों के बचपन को अपने ही घर–परिवार में उपेक्षित कर दिया था। पहले घर के बड़े–बूढ़े शिशु और बालक को गोद में लेकर उसको बाहर घुमाकर आते थे तब बच्चा तो बहलता ही था, बुर्जुगों का भी मन बहल जाता था। अब दोनों ही इस सुख से वंचित थे। तीन–तीन पीढ़ियाँ रोटी की जुगाड़ में लग गई थीं। कहाँ मिल पाया दादा–दादी की गोद और बाहों का झूला? कितने मजबूर थे सब। विस्थापित परिवारों के सैकड़ों बच्चे होटलों/ढाबों में बाल–मजदूरी भुगतने के लिए विवश थे। भूख से बेहाल अपने बचपन को ढोते हुए बच्चों में कहाँ बची थी चंचलता, भोली और मीठी शरारतें।

वेद जी, आज़ादी की इस लड़ाई में हुए विभाजन से उपजे विस्थापन ने बच्चों से उनका बचपन उनका बिंदासपन सब छीन लिया था। जिस परिवार के मुखिया दंगों की भेट चढ़ गए थे, उस परिवार के बच्चों को तो वक्त ने उम्र से पहले ही अपने पाँव पर खड़े होना सिखा दिया। खाने और पढ़ने की उम्र में वक्त ने उन्हें बाल मज़दूर बना दिया था। घर में विधवा माँ और बूढ़ी दादी तथा जवान बहन की ज़िम्मेदारी का भार उठाना नन्हें कंधों ने सीख लिया था। वेद जी, ऐसे संघर्ष–भरे जीवन के उतार–चढ़ाव, मनोवैज्ञानिक उलझनें, परिस्थितियों की निर्मम उलट–पुलट किसी में भी अवसाद भर सकती हैं। पर सारे कठिन मोर्चो पर यह शरणार्थी परिवार और उनके बच्चे हिम्मत से लड़े। मानों हवाओं से कहते कि तुम कितनी भी आँधियाँ बनकर चलो पर हमारे हौंसलों को तुम कभी गिरा नहीं पाओगी।

वेद जी, जब कभी मैं आँखें मूंद कर बचपन के गलियारों में प्रवेश करती हूँ तो देखती हूँ हमारी पीढ़ी के कई शरणार्थी परिवारों के बच्चे स्वस्थ परिवेश के अभाव मे बीमार भी हुए, कुपोषणग्रस्त भी हुए। बच्चे उतने तंदुरूस्त नहीं थे, जितने होने चाहिए। हाँ यही बचपन था मेरा और मेरे साथ उन हज़ारों लाखों बच्चों का। असुरक्षित, आतंकित भविष्य। जिस उम्र में आँखों में चमक होती है उस समय में वहाँ नियति ने विभाजन और विस्थापन के

रूप में उन्हें दर्द और आँसू दिएं वेद जी, मेरे बचपन की कहानी उस समय के पूरे शरणार्थी समाज का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

वेद मित्र शुक्ल– आप संयुक्त परिवार में पली–बढ़ीं। आप तीन बहनों और दो भाइयों में सबसे बड़ी हैं। संयुक्त परिवार का अलग ही आनंद होता है। कृपया बचपन वाले उस संयुक्त परिवार से जुड़ी कुछ और बातें बताएँ।

डॉ. कालरा– वेद जी, सन् 1947 में विभाजन और विस्थापन के बाद पाकिस्तान से कई शरणार्थी परिवारों के साथ–साथ हमारा परिवार भी दिल्ली के सदर बाजार में आकर बस गया। तब मैं एक वर्ष की थी। उस समय मेरे परिवार में मेरे दादा–दादी, मेरी माँ, पिताजी, बुआजी और चाचा जी रहते थे। इनके अलावा मेरी परदादी भी थीं। यहाँ दिल्ली में आने के बाद यानी मेरे जन्म के एक वर्ष पश्चात् मेरी छोटी बहन सरोज का जन्म हुआ और उसके ढाई वर्ष बाद सबसे छोटी बहन उषा का जन्म हुआ। यहाँ आने के बाद हमारा परिवार बढ़ा। 1957 में चाचा की शादी हुई, चाची आई फिर चचेरे भाई–बहन। इतना बड़ा था हमारा परिवार। आज की एकल परिवार की पीढ़ी संयुक्त परिवार से मिले प्यार–मोहब्बत, सुख–सुविधा और आनंद को शायद ही समझ पाए। पहले भरा–पूरा बड़ा परिवार छोटे से मकान में एक साथ मिलकर रहता था। माँ से गुस्सा हुए तो दादी की गोदी में जा बैठे। पिता ने बात न मानी तो बाबा से मनवा ली। किंतु आज बड़े घर में छोटा परिवार है। यहाँ तक कि बहन–भाई के लिए भी अलग–अलग कमरा है। मिलकर हँस–बोल भी नहीं पाते। आज बच्चों को प्राइवेसी चाहिए। हम तो इसका मतलब भी नहीं समझते थे। वेद जी, बड़ों का लाड़–प्यार उनके साथ रहने का एक अलग ही सुख होता है। दादाजी हमें खाना खिलाते, दूध पिलाते। वेद जी, बच्चे को दूध पिलाना शायद सबसे मुश्किल काम है। यह दादाजी समझ गए थे। वे हम दोनों बहनों को तरह–तरह के किस्से, कहानियाँ, प्रेरक–बोध कथाएँ सुनाते। पता ही न चलता और दूध खत्म। वह दूध पिलाते–पिलाते मुझे गिनती भी रटाते चलते। सौ तक गिनती मुझे उन्होंने ही सिखाई थी। ऐसे ही खेल–खेल में पाँच तक पहाड़े भी घुटनों पर झुलाते हुए सिखाए थे। माँ के जाने के बाद हम तीनों बहनें, दादा–दादी के प्यार और संरक्षण में पले–पढ़े। उन हालात में तो विशष रूप से संयुक्त परिवार ऐसा था जैसे चिलचिलाती धूप में किसी बदली का साया। हमारे छोटे–बड़े कामों में दादाजी दादी का हाथ बँटाते, यहाँ तक कि दादाजी हमारे बाल भी बनाते। मुझे स्कूल छोड़कर आते। स्कूल का सारा होमवर्क बुआ करातीं। दादी माँ के हाथ के बने खाने का स्वाद तो हम आज भी नहीं भूले और न उनकी लोरी के मीठे स्वर जिसकी गुनगुन सुनते ही आँखें उनींदी होने लगतीं। पहले कहानी सुनते। हूँ–हूँ करते कब नींद के आगोश में चले जाते, पता ही नहीं चलता था। संयुक्त परिवार का अपना अलग ही आनंद होता है। बच्चों को जो भावनात्मक सुरक्षा मिलती है वह उनके व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। वेद जी, आज मैं जो कुछ भी हूँ अपने दादा–दादी के स्नेहिल संपोषण और आर्शीवाद के कारण हूँ।

वेद मित्र शुक्ल– कहते हैं सभी के भीतर अंतस् में एक बच्चा होता है जो कठिन से कठिन समय में भी व्यक्ति को जीवंत रखता है। फिर बच्चे तो बच्चे होते हैं। संघर्ष भरे बचपन के दिनों में भी आप के साथ बच्चों वाले खेलकूद, कहानी–कविताएँ आदि जरूर साथ रहे होंगे। बचपन में आप कौन–कौन से खेल खेलती थीं और कौन से ज्यादा पसंद थे?

डॉ. कालरा– वेद जी, हमारा बचपन अनोखा था। आज के बचपन से बिल्कुल अलग। पर हमारे अंदर का बच्चा वही था जो आज भी सबके अंतस् में होता है। देश–विदेश कहीं भी वह एक जैसा होता है। सहज, निर्मल, परिस्थितियों से जल्द ही समझौता कर लेने वाला। माता–पिता या घर के बड़े–बूढ़ों को जिस ढंग से विभाजन ने मानसिक पीड़ा दी, आर्थिक चिंता दी, शायद बच्चों को उस तरह के दर्द से वास्ता नहीं पड़ा। अभावों और कष्टों में भी बचपन की सहज प्रवृत्ति बेफ्रिकी की

बनी रही। खेल–कूद में वे सब गम भूल जाते। बुआ हम तीनों बहनों को नहला–धुला कर तैयार करतीं। तीनों गुड़िया सी बनकर फिर बाहर खेलने जातीं। दूसरी सहेलियाँ भी आ जातीं। सभी बाहर मोहल्ले में खेलतीं। अष्टापू, कोकला छपाकी, आइसपाइस, रस्सा टापना या गेंद को दीवार पर मारकर खेलना या हाथ से जमीन पर गिराकर सौ तक गिनना यानि टप्पे मारना यही खेल होते थे हमारे। हम सब लड़कियाँ गिट्टे खूब खेलती थीं। हमारा स्कूल दोपहर की शिफ्ट का था। जब तक घर से सबको आवाज़ न आ जाती ऐसे ही खेलते रहते। वेद जी, विश्व के हर बच्चे का मूल स्वभाव तो एक सा होता है। उसे खेलना, कहानी सुनना, कहानी पढ़ना बहुत अच्छा लगता है। हमारा समय इस अर्थ में बहुत अच्छा था कि हम दादा–दादी के प्यार–भरे संरक्षण में बड़े हुए। दादाजी हमें अखबार की खबरें पढ़कर सुनाते थे। दादी हर तरह की कथा–कहानियाँ सुनाती थीं। बोधकथाएँ, पौराणिक कथाएँ सुन–सुनकर हम बड़े हुए। स्कूल में लायब्रेरी का पीरियड होता था। वहाँ चंदामामा आती थी। नंदन, पराग भी। प्रादेशिक लोककथाओं की बुक्स लायब्रेरी में बहुत पढ़ते थे। देश–विदेश की लोककथाएँ, तो वेद जी, मेरी आज भी बहुत बड़ी कमजोरी हैं।

वेद मित्र शुक्ल– बचपन में आपको खाने में क्या–क्या पसंद था? क्या वह आज भी आपकी पसंद में शामिल है?

डॉ. कालरा– वेद जी, जैसे हमारा बचपन सादा था, वैसे ही हमारा खानपान भी बड़ा सादा था। मेरी दादी हर इतवार पालक और चने की दाल का बढ़िया साग बनाती। दादाजी उन्हें साग काटकर देते। उनके हाथ के साग के स्वाद ने साग को मेरा प्रिय भोज्य बना दिया। दोपहर के भोजन के बाद साग पीतल की बड़ी हांडी में डालकर अंगीठी की धीमी–धीमी आँच पर रख दिया जाता। दिन भर साग अंगीठी पर पकता रहता। तब कुकर नहीं होते थे और न गैस। सारा दिन पत्थर के कोयले की अंगीठी जलती रहती थी। साग रात तक बनकर तैयार होता। तब मिक्सी भी नहीं होती थी। लकड़ी का घोटना होता था, उससे घोटती थीं दादी। फिर बेसन या मकई के आटे का घोल बनाकर उसे फिर साग की हंडिया में डालकर फिर खूब उबालती। हींग, टमाटर, प्याज और लहसुन के तड़के की महक से एकदम भूख लग आती। पर साग हमें रात के खाने में ही मिलता था।

सप्ताह में एक दिन इतवार को दिन में दादी सब्जियों के साथ बड़ी डालकर, हल्दी वाले नमकीन चावल बनाती। जिसकी सुगंध नाक तक पहुँच जाए तो बच्चे तो क्या बड़े भी रसोई की तरफ लपक पड़ेंगे। साथ में दादी बूंदी का रायता डालतीं जिसमें भुने जीरे की खुशबू उसके स्वाद को दुगुना कर देती। उस दिन पूरे परिवार का यही भोजन होता था। ये सारी चीज़े मुझे आज भी बहुत पसंद है। वैसे वेद जी, हमारे परिवार में भोजन एक–एक की पसंद पूछकर नहीं बनता था। घर में एक ही सब्जी बनती थी, छोटे–बड़े सब बिना नखरे के खाते थे। वेद जी, उस समय शरणार्थी–परिवारों के बच्चों के लिए भोजन का मतलब भूख शांत करना और पेट भरना होता था। हमारे समय खानपान पूरी तरह से सात्विक और सादा था। हमारा भोजन हमेशा घर में ही बनता था। कभी बाज़ार से नहीं मँगवाया जाता था। आज तो बच्चे पीज़ा, बरगर, चाउमिन और मैगी आदि फास्ट फूड के शौकीन हैं और माता–पिता भी खुशी–खुशी उन्हें बाहर का खाना खिलाकर अपना प्रेम जताते हैं। जबकि यह बच्चों की सेहत के लिए ठीक नहीं है। वेद जी, हमारे समय भोजन में पौष्टिकता का ध्यान रखा जाता था, स्वाद का नहीं।

वेद मित्र शुक्ल– आपको 'कुमार' नाम से बचपन में सभी बुलाते थे। जैसा कि हम जानते हैं कि बच्चों की कुछ व्यवहारगत विशेषताओं को देखकर बड़े–बूढ़े प्यार से कुछ और नामों से पुकारने लगते हैं। क्या 'कुमार' के अलावा भी बच्चों वाला कोई नाम प्यार से आपको दिया गया था?

डॉ. कालरा– वेद जी, मेरा कुमार नाम जन्म के तुरंत बाद मेरी बुआ द्वारा रखा गया नाम है।

बुआ के बाद मेरे रूप में नई पीढ़ी के आगमन के साथ पूरे घर में खुशी की लहर दौड़ गई। मेरा जन्म शिवरात्रि की सुबह को हुआ। हालाँकि दादी–परदादी सब पुत्र की चाह में शिवशंकर की प्रार्थना कर रहीं थीं और उन्होंने नाम भी सोच लिया था 'कुमार'। लेकिन दाई ने जब कहा बधाई हो पुत्री हुई है तो मेरी दादी–परदादी कुछ मिनटों के लिए एकदम चुप हो गईं लेकिन मेरी बुआ ने खुश होते हुए कहा कुमार का आगमन हो गया। हम तो इसका नाम कुमार ही रखेंगे। वेद जी, यह शिव–पार्वती के ज्येष्ठ पुत्र कार्तिकेय का नाम है। प्रथम संतान पुत्र हो या पुत्री एक सा आनंद तो देती ही हैं। पुत्री होते हुए भी मेरा नाम वही रखा गया कुमार। आज भी मायके और मेरे ननिहाल में मुझे सब इसी नाम से पुकारते हैं। दूसरा और कोई नाम मुझे नहीं मिला। शकुंतला नाम तो बस मेरे स्कूल का नाम था जो आगे चलकर प्रचलित नाम के रूप में जाना जाने लगा।

वेद मित्र शुक्ल– बचपन बड़ा ही निर्दोष होता है। इस दृष्टि से यह बचपन जैसा कल यानी आपके समय में था वैसा अब भी है। इसके बावजूद जीवन–शैली में समय–समय पर आए परिवर्तन बहुत कुछ बदल देते हैं। आज के बच्चों का बचपन अपने बचपन से आप किस प्रकार से भिन्न पाती हैं?

डॉ. कालरा– वक्त और परिवेश के साथ बच्चों के विचार, आचार–व्यवहार में बदलाव का आना बड़ा स्वाभाविक है। पीढ़ियों का अंतर और परिवेश के अंतर के कारण जीवन शैली भी पूरी तरह बदली है। वेद जी एक था हमारा समय और एक था मेरा समय। हमारे समय में भी अमीरों के बच्चे अंग्रेजी मीडियम के प्राईवेट व पब्लिक स्कूलों में पढ़ते थे। कॉन्वेंट स्कूलों में पढ़ते थे। मैंने 1952 में ईदगाह रोड के लड़कियों के प्राईमरी स्कूल में पहली कक्षा में दाखिला लिया। हमारे समय में नर्सरी और के.जी नहीं थीं। यह स्कूल पुरानी दिल्ली के भीड़–भाड़ वाले इलाके में था। मेरे घर से ढाई–तीन किलोमीटर दूर था। हम सब लड़कियाँ जिसमें कुछ चौथी–पाँचवीं की भी थी इकट्ठे पैदल जाते थे। वापसी भी इकठ्ठे आते थे। दोपहर की शिफ्ट थी। वापसी घर आते–आते सात बज जाते थे। पैदल चलकर थक जाते थे। घरों में उन दिनों बिजली भी नहीं होती थी। लैंप में पढ़ते थे। जल्दी सो जाते थे और जल्दी सुबह उठकर पढ़ते थे। आज बच्चों के पास सभी सुविधाएँ हैं। आज निम्न, मध्यम वर्ग के बच्चे भी पब्लिक स्कूलों में बढ़ते हैं। स्कूल बस से आते–जाते हैं। ट्यूटर आकर पढ़ाते हैं। होमवर्क में उनकी मदद करते हैं।

वेद जी, आज के बचपन और मेरे साथ शरणार्थी परिवारों के कल के बचपन में बहुत अंतर है। शरणार्थी परिवारों के बच्चों में दुख और अभाव में भी सुख ढूँढता बचपन मिलेगा। सुविधाओं के अभाव में खुश रहते बच्चे मिलेंगे। गलियों में गिट्टे, कंचे खेलकर और अष्टापू, कोकला–छपाकी से मन बहलाते बच्चे मिलेंगे। यही तो हमारा मनोरंजन था। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि हमारा सीधा–सादा समय था। सीधे–सादे बच्चे और सीधे–सादे ही माता–पिता होते थे। न अधिक पैसा न फिर उसके प्रदर्शन की प्रवृत्ति और न उपभोग की इच्छा। हमारे समय चाकलेट का प्रचलन आम नहीं था। टॉफी, गोली थी जो काफी सस्ती होती थीं। सब बच्चे वही खाते थे। आज की तरह टी. वी. नहीं थे, न उसमें खाने की नई–नई चीज़ों के विज्ञापन होते थे, जिन्हें देख–देख कर बच्चे कोई डिमांड रखते। रेडियो में भी विज्ञापन–सेवा बहुत बाद में शुरू हुई थी। काश! वह सादगी फिर लौट सकती। यह अब संभव नहीं हो सकता। लोगों के पास पैसा बहुत है। उसी के अनुसार बच्चों की चाहतें और माँगे भी बड़ी–बड़ी हैं। तब हर घर में बहन–भाई भी ज्यादा होते थे। माता–पिता का ध्यान किसी एक पर केंद्रित न होने के कारण कोई बच्चा अपने को अतिरिक्त महत्व नहीं देता था। अगर बहन बड़ी होती तो वह अपने सभी छोटे भाई–बहनों को देखती। आपस में बड़ा भाईचारा था। सभी बच्चों में आपस में हर वस्तु बाँटने की प्रवृत्ति थी। मिल–बाँट कर खाना और मिल–बाँट कर पहनना। बड़े बच्चे के कपड़े छोटा बच्चा बिना

किसी शिकायत के चाव से पहनता था। उसे 'उतरन' समझ कर नहीं वरन् बड़े का स्नेह और आशीर्वाद समझकर पहनते थे। कपड़े घिसते–फटते थे या रंग खराब हो जाता था तब हम बदलते थे। आज की तरह फैशन बदलने से ड्रैस नहीं बदलती थी। आज एकल परिवार है उनमें भी एक या दो बच्चे हैं। कहीं तो इकलौता बच्चा होने के कारण उनमें परस्पर 'शेयर' करने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। 'जो है वह बस मेरा है' यही मनोवृत्ति लेकर वह बड़ा होता है और आगे चलकर वह समाज से भी 'आदान' ही चाहता है 'प्रदान' करना नहीं चाहता।

वेद मित्र शुक्ल– आपने जो प्रौढ़ साहित्य लिखा है। आपका बचपन उस में भी अवश्य गाहे–बेगाहे आ ही जाता होगा। पाठकों के लिए कुछेक रचनाओं के बारे में बताएँ जिनमें आपके बचपन के अंश जुड़े हों।

डॉ. कालरा– वेद जी, साहित्य आत्माभिव्यक्ति ही तो है। प्रत्यक्ष–परोक्ष किसी न किसी चरित्र में आपको रचनाकार प्रच्छन्न रूप से मिलेगा। अपनी आईडियोलोजी के रूप में यानी अपनी विचारधारा के रूप में मिलेगा। प्रौढ़ साहित्य हो या बालसाहित्य दोनों में वह विद्यमान रहता है। मेरा बाल उपन्यास 'मिट्ठी की चिट्ठी' शीघ्र प्रकाश्य है जिसकी कहानी भी स्वयं मेरी बचपन की कहानी है। मेरी पहली कहानी जो मैंने 14 वर्ष की उम्र में लिखी थी जब मैं नवीं कक्षा में पढ़ती थी 'प्यास जो बुझ न सकी' भी मेरी ही कहानी थी। दोनों माँ पर केंद्रित हैं। मैंने माँ को वेद जी, बचपन के उस मोड़ पर खोया था, जब बच्चे को उसकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है। पहली बार जब मैं स्कूल गई थी उस दिन में बहुत रोई थी। मेरी बड़ों की एक कहानी है 'सर्वपोषिता' जो मेरे कहानी संग्रह 'आत्म निर्वासन' में संकलित है। वह भी पूरी मेरी कहानी है। सर्वपोषिता में संयुक्त परिवार में दादी, बुआ, चाची आदि सबमें प्यार संपोषण से पली सर्वपोषित को कभी माँ की कमी महसूस नहीं होती। किंतु विवाह के समय, विदाई के समय चाहे उसे सब गले मिलते हैं पर वह किसी में भी माँ के अक्स का अहसास, उसके प्यार की ऊष्मा नहीं महसूस कर पाती। उस समय उसे माँ की कमी महसूस होती है। तो वह सोचती है काश वह सर्वपोषिता नहीं केवल मातृपोषिता होती। ऐसे ही 'पन्ने–पन्ने में मुस्कुराता एक चेहरा' कहानी की बालपात्र भी मैं ही हूँ। तो वेद जी आप कह सकते हैं कि रचनाकार अपनी रचना में कहीं न कहीं विद्यमान रहता है।

वेद मित्र शुक्ल– और बचपन की वे कहानी–कविताएँ जिनमें से आज भी कई याद होंगी? क्या वे आपकी मातृभाषा सिरायकी और पंजाबी में ही होती थीं या हिंदी में भी?

डॉ. कालरा– हाँ उन दिनों की सुनी और पढ़ी हुई कहानियों में कुछ आज भी मुझे याद हैं और उन्हें मैंने बच्चों के लिए नए ढंग से लिखा भी है। ये सब कहानियाँ हिंदी में ही हमने पढ़ी थीं। पंजाबी में लिखना–पढ़ना तो बहुत बाद में सीखा। पंजाबी की लिपि गुरुमुखी और शाहमुखी है। सिरायकी की लिपि फारसी है। विभाजन से पहले पाकिस्तान भारत का हिस्सा था। अविभाजित भारत में 'सिरायकी' भाषा फारसी लिपि में लिखी जाती थी। पाकिस्तान में आज भी फारसी लिपि में लिखी जाती है। हमारे यहाँ आज यह देवनागरी और फारसी दोनों में लिखी जाती है।

वेद मित्र शुक्ल– भारत में 'सिरायकी' के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग कब से होने लगा?

डॉ. कालरा– हमारे यहाँ 'सिरायकी' देवनागरी लिपि में 1990 से लिखी जाने लगी। भारत में पहली बार देवनागरी लिपि में लिखने का श्रेय डॉ. मलिक राजकुमार को जाता है। इसका उल्लेख डॉ. हुक्मचंद ने अपनी पुस्तक 'मुल्तानी संस्कृति' की भूमिका में किया है। मलिक जी के बार–बार के प्रयासों से गोमती गेस्ट हाऊस में 'सिरायकी इंटरनेशनल' संस्था के पदाधिकारी और सदस्यों की होने वाली हर मीटिंग में वह हिंदी की प्रबल वकालत करते। सटीक तर्क देते कि मेरे सहित आने वाली पीढ़ी उर्दू से वास्ता नहीं रखती। ऐसे में हमारी सिरायकी भाषा मर जाएगी। प्रयास सफल हुआ और भारत में देवनागरी को ही सिरायकी की लिपि स्वीकार कर लिया गया। उस समय एक पत्रिका 'इंटरनेशल' भी निकली। 1990 में ही एक एक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार मावलंकर हॉल नई दिल्ली

में हुआ। इसमें पाकिस्तान के डेलीगेट्स भी आए थे फिर 'सिरायकी इंटरनेशनल' पत्रिका हिंदी–उर्दू में एक साथ निकली, जिसमें भारतीय एवं पाकिस्तानी सिरायकी साहित्यकारों की रचनाएँ छपीं। इससे पूर्व भी अलग–अलग बिरादरी की मासिक पत्रिकाएँ 1945 से ही छपती थीं, पर उन्हें नोटिस में नहीं लिया गया।

वेद मित्र शुक्ल– क्या हमारे यहाँ सिरायकी की कोई पुस्तक भी प्रकाशित हुई?

डॉ. कालरा– हाँ वेद जी। सन् 2001 में 'सांझे अला' डॉ. मलिक के संपादन में एक कविता–संग्रह आया जिसमें 14 कवियों की कविताएँ थीं। फिर धीरे–धीरे लोग अपनी किताबें भी छपवाने लगे। 100 पुस्तकें प्रकाश में आईं। सिरायकी का अपना लोकसाहित्य है। रामकिशन शर्मा ने 'सिरायकी विरसा' (सिरायकी विरासत) पुस्तक दी है जिसमें सिरायकी का लोकसाहित्य है। भारत में सिरायकी लोगों ने पूरे देश में मुशायरे करवाए। सिरायकी को 'वर्ल्ड सर्विस आल इंडिया रेडियो' पर आधे घंटे का प्रोग्राम मिला जो आज निरंतर चल रहा है जिसमें लेख, कविता कहानी, कवि सम्मेलन आदि प्रोग्राम होते हैं। अब तो हमारी सिरायकी भाषा के फेसबुक पर आने से बहुत लोग जुड़ गए हैं। कई ग्रुप बन गए हैं और आपको ताज्जुब होगा इस समय मुल्तानी और सिरायकी के सवा लाख सदस्य हैं। यू ट्यूब पर भी सैकड़ों लोग आ गए हैं। अब बड़ी शान से हमारी सिरायकी चल रही है। इस बात को हिंदी के लेखक भी जानते हैं। सिरायकी का अपना लोकसाहित्य है और इसके लेख भी प्रकाशित हो रहे हैं। डॉ. सुरेश गौतम द्वारा संपादित ग्रंथ आठ खंडों के वृहद 'भारतीय लोकसाहित्य कोश' के आठवे भाग में बाकायदा सिरायकी का साहित्य रखा गया है। डॉ. मलिक ने इसमें 100 पृष्ठ दिए हैं। 'भारतीय लोरी साहित्य कोश' में 'सिरायकी में लोरी' पर डॉ. मलिक का 25 पृष्ठ का लंबा आलेख है। वेद जी, देवेंद्र सत्यार्थी जी ने लोकगीतों के संकलन में अपना सारा जीवन लगा दिया। वैसे हमारे यहाँ भी कुछ लोगों ने बड़े समर्पण से अपनी भाषा के लोकसाहित्य को ढूँढकर संचित किया है।

वेद मित्र शुक्ल– क्या आप ऐसे कुछ साहित्यकारों के नाम बताएँगी जो आज भी अपने लेखन के द्वारा अपनी माँ बोली सिरायकी को जीवित रखे हुए हैं?

डॉ. कालरा– वेद जी, अनेक साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी मातृभाषा को अपने रचनात्मक सहयोग, संपादन, संकलन द्वारा समादृत किया है, और जिसके कारण वह आज भी जीवित है। इनमें से कुछ नाम हैं– बोधराज जफर, हरिश्चंद्र 'नाज' सोनीपत्ती, डॉ सत्यपाल 'बेदार 'सरस' आदि। सरस जी ने तो सिरायकी में 'सरस–सिरायकी गीता' नाम से गीता भी लिखी है। इनके अतिरिक्त महेंद्रप्रताप 'चाँद', कृष्णकुमार नंदा, दयालचंद नारंग, राधाकृष्ण 'आजाद', राणा प्रतापसिंह गन्नौरी, आत्मप्रकाश नंदवानी, देवराजपुरी दिलबर, जगदीशचंद्र बत्रा 'सिरायकी', अर्जुनदेव चुघ, डॉ. ए. वी. भारती 'आदिक, डॉ. उदयभानु 'हंस', डॉ. मलिक राजकुमार, डॉ. सुभाषचंद्र सचदेवा 'हर्ष', विकास शर्मा राज आदि का योगदान भी उल्लेखनीय है।

वेद मित्र शुक्ल– मेरी जिज्ञासा 'सिरायकी' भाषा को और भी नजदीक से जानने की है। कृपया आप बताएँगी कि भारत में इनके प्रयोगकर्ता कहाँ–कहाँ रहते हैं और इनके बोलने वालों की संख्या कितनी है?

डॉ. कालरा– पूरे हिंदुस्तान के कोने–कोने में सिरायकी भाषी रहते हैं। देश का कोई भी ऐसा सूबा नहीं जहाँ सिरायकी भाषी न बसते हों। सिरायकी बोलने वाले वे ही लोग हैं, जो सन् 1947 में पाकिस्तान से भारत में आकर बस गए। उनकी संख्या करोड़ों में है। पाकिस्तान से आए ये सिरायकी भाषी लोग भारत में पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र आदि प्रांतों में आकर बस गए। वेद जी आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि 1947 के विभाजन से पूर्व भी भारत में सिंधी और सिरायकी बोलने वाले थे। उनमें भी ज्यादातर मुस्लिम थे। यह जहाँ बोली जाती थी उनमें दो राज्य के नाम हैं– राजस्थान और तेलंगाना। इनके कई जिलों में सैकडों सालों से सिरायकी बोलने वाले बसते हैं। पंजाब में

लुधियाना, फिरोजपुर, पटियाला, राजपुरा में सिरायकी भाषी लोग बसे हुए हैं। अधिकतर सिरायकी भाषी लोग सारे हरियाणा के छोटे–बड़े शहरों शाहबाद, कुरुक्षेत्र, कैथल, करनाल, पानीपत, सोनीपत, गनौर गोहाना, रोहतक, हिसार, सिरसा, भिवानी, गुरुग्राम, फरीदाबाद, बल्लभगढ़, पलवल, लोहारू में आकर आबाद हुए। इन शहरों में लगभग आधी–आधी आबादी मुलतानी या सिरायकी–भाषियों की है। वेद जी, बड़े दुख की बात है कि नई पीढ़ी जैसे अपने रीति–रिवाज़ और रहन–सहन को भुलाती जा रही है, वैसे ही अपनी माँ बोली जुबान को भी। अंग्रेजी तालीम का जमाना होने के कारण वे इसे बोलने में शरम महसूस करते हैं वे नहीं जानते कि उनका सांस्कृतिक सरमाया, उनकी धरोहर ही भाषा में है। वेद जी हमारी सिरायकी भी ब्रजभाषा और बांग्ला भाषा जैसी बड़ी मीठी भाषा है और इसका संस्कृत, फारसी और अरबी जैसी पुरानी और समृद्ध भाषाओं से गहरा संबंध है।

वेद मित्र शुक्ल– क्या 'सिरायकी' भाषा पूरे पाकिस्तान में बोली जाती है?

डॉ. कालरा– नहीं, दरिया सिंध के दोनों ओर के जिलों में यह भाषा बोली जाती है। इसका असली वतन तो डेरा गाजी खाँ, मुलतान, मुजफ्फरगढ़ और बहावलपुर, रहीम यार खाँ, राजनपुर, बक्खर, झंग, बन्नु आदि का इलाका है जो 1947 में देश के बँटवारे के बाद पाकिस्तान में रह गए। यहाँ तो यह बोली ही नहीं जाती, इसमें पद्य–गद्य दोनों में साहित्य लिखा भी जाता है और प्रकाशित होता है। वहीं रोजाना अखबर भी छपते हैं। वहाँ रेडियो और टी.वी. पर खबर और कई प्रोग्राम भी प्रसारित होते हैं। कई नेता अपना भाषण भी सिरायकी में देते हैं। 'सिरायकी इंटरनेशनल', 'सिरायकी शोभा', सिरायकी संस्कृति', 'पंजाबी संस्कृति', 'सिरायकी दुनिया' आदि पत्रिकाएँ भी छपती रहीं, जिनमें से अब कुछ बंद हो गई हैं। वेद जी, जैसा कि आप जानते हैं बहुत कम पत्रिकाएँ हैं जो दीर्घजीवी रह पाती हैं।

वेद मित्र शुक्ल– क्या आपने भी कुछ 'सिरायकी' में लिखा है?

डॉ. कालरा– वेद जी, ऐसा कुछ उल्लेखनीय तो नहीं। बहुत पहले तीन–चार लघु–कथाएँ लिखीं थीं, कुछ हाइकू भी लिखे थे। जो 'मियाँवाली गजट' में छपीं थीं। कुछ लघु–कथाएँ 'भारत एशियाई साहित्य अकादमी' पत्रिका में छपी थीं। इस पत्रिका के संपादक अशोक खन्ना जी रहे हैं जो स्वयं भी हिंदी, अंग्रेजी के साथ सिरायकी भाषा के अच्छे लेखक हैं। इस पत्रिका में कई देशों के 'रचनाकारों' की रचनाएँ आती थीं। हिंदी के साथ अंग्रेजी, संस्कृत, सिरायकी की मूल रचनाओं के साथ पंजाबी, नेपाली की अनूदित रचनाएँ भी पढ़ने को मिलती थीं। मैं भी कुछ वर्ष इस पत्रिका के साथ सह–संपादक के रूप में जुड़ी रही हूँ। 20 साल तक निरंतर छपने के बाद पिछले वर्ष ही यह पत्रिका खन्ना जी की अस्वस्थता के कारण बंद हो गई।

वेद मित्र शुक्ल– आपके जन्म के समय से अब तक देश–दुनिया ने अनेक स्तरों पर उपलब्धियाँ हासिल की हैं। इसके बाद भी स्त्री–पुरुष या पुत्र–पुत्री दोनों के प्रति आज भी समान भाव समाज में बनाए रखना एक बड़ी चुनौती माना जा रहा है। ऐसे में उस समय की परिस्थितियों में एक संयुक्त परिवार की बेटी 'कुमार' के बचपन को और साथ में अपनी सहेलियों के बचपन को आप कैसे देखती है? कृपया कुछ अनुभव साझा कीजिए।

डॉ. कालरा– 21वीं सदी में नारी की स्थिति में बहुत बदलाव आया है। आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता के युग ने नारी को अब अबला और पराधीन नहीं रहने दिया। शिक्षा से लाभान्वित होकर वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हर चुनौती का सामना करते हुए आगे बढ़ रही है। उसके साथ उसी के समान जल–थल और नभ में भी उसकी समान गति है। आज वह डाक्टर, इंजीनियर, देश की रक्षा करने वाली सेनानी, कुशल व्यवसायी और उद्योगकर्मी, धुरंधर खिलाड़ी, सफल राजनेता, प्राध्यापिका, लेखिका, समाज सेविका आदि कितने ही रूपों में अपनी प्रतिष्ठित एवं स्तुत्य पहचान बना चुकी है किंतु अफसोस वेद जी आम नारी की स्थिति में अभी भी सुधार नहीं हुआ।

स्त्री–पुरुष या पुत्र–पुत्री दोनों के प्रति आज भी समान भाव समाज में बनाए रखना एक बड़ी चुनौती है। भारत में आज की एक बहुत बड़ी और ज्वलंत समस्या कन्याभ्रूण हत्या है। यह समस्या कल भी थी और आज भी है। कन्याभ्रूण हत्या अथवा जन्म के बाद उसकी तुरंत हत्या मानवता का बहुत बड़ा कलंक है और वेद जी, यह काम देश के सबसे ज्यादा शिक्षित, संपन्न और विकसित क्षेत्रों में रहने वाले लोग करते हैं। वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल से ही प्रकृति स्वरूपा नारी को परमेश्वर की शक्तियों के रूप में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त रहा है। सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में पूजी जाती रही हैं, परंतु मध्यकाल में नारियों की स्थिति में शोचनीय परिवर्तन आया। सतीप्रथा, बालविवाह और विधवाओं के प्रति समाज की कुत्सित सोच जैसी कुप्रथाओं ने नारी को अपमानजनक दयनीय स्थिति में पहुँचा दिया। भारतीय समाज पुरुष–प्रधान समाज है। यहाँ सदियों से पुरुषों का ही वर्चस्व कायम रहा है। भारतीय संस्कृति की वाहिका नारी को अबला और पराधीन बना दिया।

वेद जी कोई भी राष्ट्र महिलाओं को पीछे रखकर आगे नहीं बढ़ सकता। स्त्री और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं। दोनों समान होंगे, ठीक होंगे तो ही गाड़ी निर्बाध रूप से जीवन–पथ पर दौड़ेगी। यह तभी होगा जब पुरुष सत्तामक–व्यवस्था, पुरुष सामंती संस्कार और उसका मिथ्या वर्चस्व समाप्त होगा। आपके प्रश्न का दूसरा हिस्सा विशेष रूप से मेरे परिवार में पुत्र–पुत्री में अंतर का है। उस समय यानी विभाजन के समय समाज में पुत्र–पुत्री और स्त्री–पुरुष के प्रति सोच में अंतर का है। मेरे परिवार में पुत्र–पुत्री में वैसा अंतर नहीं रखा जाता था। पुत्र की इच्छा तो पूरे परिवार में सबकी रहती ही थी। खास कर पहली संतान के समय। एक बार जन्म हो गया तो उसके लालन–पालन में कोई अंतर नहीं था। वैसा ही लाड़–दुलार हमें भी मिला। हम तीनों बहनों ने उच्च शिक्षा ग्रहण की। मेरे बचपन की जो सहेलियाँ थीं उनमें कुछ तो कॉलेज तक गईं लेकिन कुछ के जल्दी विवाह भी हो गए। वेद जी मेरा मानना है कि यदि विश्व के तेजी से हो रहे विकास के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना है तो महिलाओं की सहभागिता को सादर स्वीकारना होगा।

वेद मित्र शुक्ल– आपने अपने बचपन को पाठकों के साथ साझा किया, बहुत–बहुत आभार। मेरा मुख्य मुद्दा यही था। मैं बालसाहित्यकार के रूप में उनके बचपन को उनके परिवेश को, उन परिस्थितियों को, उनके लेखन की प्रेरणा को जानना चाहता था, जिन्होंने उनमें लेखन के बीज बोए। अगर आपकी इज़ाजत हो तो, लगे हाथ आपके साहित्य विशेष रूप से बाल साहित्य की भी कुछ चर्चा हो जाए। बालसाहित्य–लेखन के समानांतर आप बड़ों के साहित्य से भी जुड़ी हैं। वहाँ भी आपके कविता, कहानी, यात्रावृत्तांत और निबंध के संकलन के साथ कई आलोचनात्मक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। आपका अधिक प्रिय क्षेत्र कौन सा है? बाल साहित्य या प्रौढ़ साहित्य?

डॉ. कालरा– दोनों ही प्रिय क्षेत्र हैं और दोनों में ही मैंने जब–जब लिखा बिना किसी पूर्व योजना के सहज होकर लिखा। ऐसा नहीं कि अब मैं बड़ों का साहित्य लिखूँगी और अब कुछ दिन बच्चों के लिए। कभी–कभी तो बड़ों का लिखते–लिखते कोई भाव बच्चों के लिए कौंधा– तो उसी क्षण बालकविता बनकर कागज़ पर उतर गया और कभी ठीक विपरीत बच्चों का लिखते–लिखते बीच में बड़ों के लिए कोई विषय सूझा तो कविता अथवा कहानी बन गया। सृजनात्मक लेखन आयास पूर्वक नहीं होता। इसी तरह सृजन के साथ–साथ बीच–बीच में विभिन्न संपादकों की माँग पर पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के लिए मैंने आलोचनात्मक और शोधपरक आलेख भी लिखे। सब कुछ साथ–साथ चलता रहता है, कोई विभाजन रेखा नहीं।

वेद मित्र शुक्ल– उत्तम बालसाहित्य की कसौटी क्या है?

डॉ. कालरा– उसकी पहली अनिवार्य शर्त है कि वह बच्चों का मनोरंजन करने वाला हो। उसे आनंद प्रदान करे। साथ ही उनका सही

मार्गदर्शन और उनके व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास करने वाला हो। बाल साहित्य रोचक एवं प्रेरक होना चाहिए। रुचियों में परिष्कार लाए और बच्चों में अच्छे संस्कार भरे। साहित्य वही सुंदर व हितकारी है जिसे पढ़कर बालमन संस्कारित हो। बच्चे देश की भावी पीढ़ी हैं, बालसाहित्य ऐसा हो जो उनके लिए सुदृढ़ धरातल का निर्माण कर सके। वे जागरूक बने। अंधविश्वासी नहीं। उनमें वैज्ञानिक सोच जाग्रत हो। बच्चा जिज्ञासु और ज्ञान–पिपासु होता है। बाल साहित्य ऐसा हो जो बच्चों की जिज्ञासाएँ शांत करे। बालसाहित्य बच्चों के मनोभावों, उसकी प्रकृति का प्रतिबिंब होना चाहिए। कविता हो या कहानी उनमें वे अपने मन की प्रतिछवि पाकर पूर्णरूपेण तृप्त हो जाते हैं। सोहनलाल द्विवेदी का भी यही मानना है कि 'जो बालकों की बात को बालकों की भाषा में लिख दे, वही सफल बाल साहित्य लेखन है। विषय के समान उसकी भाषा भी चाहे वह किसी विधा में हो बालोचित सरल और स्पष्ट होनी चाहिए, बच्चे जिसे आसानी से समझ सकें। उन्हें किसी शब्दकोश देखने की आवश्यकता न पड़े। ध्यातव्य यह है कि किस उम्र के बालकों के लिए आप साहित्य लिख रहे है? शिशु, बाल और किशोर इन तीनों अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए भाषा का चयन करना चाहिए। बस यही कुछ मूल बातें हैं।

वेद मित्र शुक्ल– उत्कृष्ट बालकविता आप किसे कहेंगे?

डॉ. कालरा– मेरी दृष्टि में उत्कृष्ट बालकविता की सबसे बड़ी विशेषता है, कि उसमें बच्चों का नटखट संसार हो। उनमें लुभावनापन हो, रसीलापन ऐसा हो कि बालकों के साथ बड़े भी आनंद–विभोर हो उठें। मनोविज्ञान का स्पर्श हो। बच्चों में उल्लास, चुलबुलाहट और मौज–मस्ती का भाव पैदा करने वाली हो। बच्चों के मीठे सपने, उनके बालहठ, उनकी बालसुलभ चेष्टाएँ, शैतानियाँ, रूठना–मनाना, उनकी मौलिकता हो। ऐसी अनेक विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं। बदलते समय के अनुसार नए विषय हों। बाल–सुलभ सरलता के साथ जीवंत भाषा, लयात्मक शैली हो। बाल कविताएँ ऐसी हों, जिनमें छंदसम्मत प्रवाह हो अर्थात् वे छंदबंद्ध हों, उनमें गेयता बाल कविता का सबसे बड़ा गुण है।

वेद मित्र शुक्ल– क्या कारण कहानी बच्चों की पहली पसंद है। एक अच्छी कहानी की कसौटी क्या है? बच्चे कैसी कहानियाँ पसंद करते हैं?

डॉ. कालरा– कहानी बच्चों की पहली पसंद है, क्योंकि कहानियों के माध्यम से उन्हें रस की ऐसी धारा मिलती है कि वे खुश हो जाते हैं। कहानियों में वे अपने मन की अनुभूतियों की झलक पाते हैं। अच्छी कहानी कल्पना–शक्ति को उद्बुद्ध करती है। उनके विचारो की उड़ान को उठाती है। उनमें छिपी उनकी रचनात्मक शक्ति को बाहर निकालती है। वे कहानीकार जिन्होंने अच्छी कहानियाँ लिखीं हैं, वे बच्चों के स्वभाव रुचि, मानसिक प्रक्रिया और वयानुसार क्रमशः सरल, सरलतर, सरलतम भाषा को ध्यान में रखकर लिखीं है। आपने पूछा बच्चे कैसी कहानियाँ पसंद करते हैं। बालक के लिए हर कहानी आकर्षण पैदा करती है। अतीत अथवा वर्तमान की हो, यथार्थ हो चाहे काल्पनिक हो, पौराणिक कथा अथवा राजा–रानी की कहानी हो, ऐतिहासिक अथवा लोककथा हो बशर्ते वे बच्चों का भरपूर मनोरंजन करें। उनमें बालकों की रुचि के भरपूर तत्व हों तभी तो वे उन्हें रस लेकर पढ़ेंगे। बच्चों में परीकथाएँ भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। परीकथाएँ बालकों के मन से उलझन तथा चिंता दूर करके, उन्हें एक सुखद संसार में ले जाती हैं। सुखांत होने के कारण ये बच्चों को भाती हैं।

वेद मित्र शुक्ल– पर आज परीकथाओं की सार्थकता पर अनेक प्रश्नचिह्न लगाए जा रहे हैं।

डॉ. कालरा– बिल्कुल ठीक कहा आपने। परीकथाओं के बारे में विभिन्न विद्वानों में छिड़ी बहस में सबके अपने–अपने तर्क हैं। आज आधुनिक देशों में परीकथाएँ बराबर लिखी जा रहीं हैं। ये कथाएँ बच्चों की कल्पना को उर्वर बनाती हैं। परीकथाओं के प्रबल समथर्क 'नंदन' के संपादक जयप्रकाश भारती का मानना था कि बच्चे परीकथाओं को पसंद करते हैं। उनका कहना था, यदि

परीकथाएँ न होती तो मानव चाँद तक न पहुँच पाता। परियों की कल्पना से अंतरिक्षयान की कल्पना साकार हो पाई है। एक दूसरा वर्ग है, जिसका मानना है कि परीकथाएँ बच्चों को यथार्थ की दुनिया से दूर ले जाती हैं। ये बच्चों को पलायनवादी बनाती हैं। मेरा मानना है कि यदि रचनाकार उन्हें युगानुरूप प्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत करता है या यदि ये इसी धरती से जुड़ी हों, अलौकिक तत्व की अपेक्षा यथार्थ से जुड़ी हों तो वे बच्चों को अपनी स्वाभाविकता के कारण बाँधती हैं।

वेद मित्र शुक्ल– बहुत–बहुत आभार। जिज्ञासाएँ तो अभी भी शेष है। फिर अगली मुलाकात में मिलते हैं आपके बालसाहित्य–सृजन की विविध विधाओं के साथ।

– एसोसिएट प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, राजधानी महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय),
राजा गार्डन, नई दिल्ली–110015

❑❑❑

स्यमंतक की खोज

डॉ. दादूराम शर्मा

पात्र परिचय

श्री कृष्ण : द्वारकाधीश
अक्रूर, उद्धव, सत्राजित, कृतवर्मा, दो सभासद –द्वारका की राजसभा के सभासद।
द्वारपाल, सत्राजित के दो सेवक, कुछ स्त्रियाँ और बच्चे।
दीर्घ लोचन : राज्य का प्रधान गुप्तचर
चार चक्षु : एक गुप्तचर अधिकारी
महाबल : सेनापति
सात्यकि : रक्षा मंत्री
जामवान : एक प्रसिद्ध वीर
जामवान की पत्नी, सेना अधिकारी, सैनिक, जामवान के सेवक आदि।

दृश्य – 1

(द्वारका का राजसभागार। श्रीकृष्ण स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं। उनकी दाहिनी ओर अक्रूर और बाईं ओर उद्धव अपने–अपने आसनों पर बैठे हैं। कुछ अन्य सभासद भी यथास्थान बैठे हैं। सहसा द्वारपाल का हड़बड़ी के साथ प्रवेश।)

द्वारपाल : द्वारकाधीश की जय हो। त्रिलोकी के अंधकार को मिटानेवाले भगवान सूर्य स्वयं आपके दर्शनार्थ पधार रहे हैं।

श्रीकृष्ण : (मुस्कुराते हुए) उन्हें आदर सहित लिवा लाओ।

द्वारपाल : जो आज्ञा। (जाता है तभी अपने तेज से सभी की आँखों को चौंधियाते हुए एक पुरुष दूसरे द्वार से, जिससे राजसभा के मान्य सदस्य प्रदेश करते हैं, भीतर आता है। श्रीकृष्ण को छोड़कर सभी सदस्य खड़े हो जाते हैं।)

सभी : (एक स्वर में) भगवान भास्कर हम सभी का प्रणाम स्वीकार करें। (प्रणाम करते हैं।)

आंगतुक : (हाथ जोड़कर प्रणत मुद्रा में) मान्य सभासदों को मेरा प्रणाम स्वीकार हो। द्वारकाधीश भी मेरा प्रणाम स्वीकारें। मान्य सभासदों! आपको भ्रम हुआ है। मैं सूर्य नहीं, इस सभा का चिरपरिचित सदस्य सत्राजित हूँ।

(अपने आसन की ओर बढ़ता है और श्रीकृष्ण का संकेत पाकर बैठ जाता है।)

अक्रूर : (आश्चर्य से जल्दी–जल्दी पलकें झपकाते हुए) भाई सत्राजित जी, कमाल है आपके शरीर से इतना तेज फूट रहा है कि दृष्टि उस पर ठहर ही नहीं पा रही है। आँखें चौंधिया गई हैं, तब आपको कैसे देखें और कैसे पहचानें! (दृष्टि उधर से हटाकर चौंधियाई आँखों को बार–बार पलकें झपकाकर प्रकृतिस्थ करने की चेष्टा करता है।)

सत्राजित : (मुस्कुराते हुए अपने हार में लगी मणि को, जिससे बड़ी तेज प्रकाश की किरणें निकल रही हैं, हाथ से पकड़कर सभी को दिखाते हुए) माननीय महानुभावों। यह स्यमंतक मणि है, जिसे भगवान सूर्य ने मेरे तप से प्रसन्न होकर प्रदान की है। इसी से ये प्रकाश की किरणें फूट रही हैं।

कई सभासद : (आश्चर्य से) भई, वाह। (एक दूसरे की तरफ देखकर कानाफूसी करते हैं।)

अक्रूर : (व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ) भाई सत्राजित जी, यदि आप अन्यथा न लें तो एक बात कहूँ?

सत्राजित : (इधर–उधर देखते हुए सहम कर) हाँ, हाँ कहिए।

अक्रूर : (खंखार कर गला साफ करते हुए) राज्य का प्रधान कौन होता है?

सत्राजित : राजा होता है और कौन?

अक्रूर : राज्य की बहुमूल्य और उत्तम वस्तुएँ किसके पास होनी चाहिए?

सत्राजित : (भर्राई आवाज में) राजा के पास होनी चाहिए। यही आशय है न आपका?

अक्रूर : (क्रूरतापूर्ण हँसी हँसते हुए) आप ठीक समझे।

सत्राजित : (बैठती आवाज में) किंतु मैं आपका आशय नहीं समझ पाया?

अक्रूरः (अपने स्वर को मधुर बनाते हुए) आशय स्पष्ट है। आप बुरा न मानें। यह मणि द्वारकाधीश को भेंट कर दें।

सत्राजित : (उत्तेजित स्वर में) लेकिन क्यों?

अक्रूर : यह मणि श्रीकृष्ण के कंठहार के योग्य है। आप इसे धारण करने की योग्यता नहीं रखते। (सत्राजित रूआँसी नजरों से इधर–उधर देखता है।)

एक सभासद : (खड़े होकर) अक्रूर जी के इस अमानवीय प्रस्ताव पर मुझे कड़ी आपत्ति है।

दूसरा सभासद : (किंचित् उत्तेजित स्वर में) और मुझे भी आपत्ति है। (श्रीकृष्ण की ओर मुखातिब होकर) क्या महाराज अक्रूर जी के इस प्रस्ताव से सहमत हैं? क्या द्वारका के साम्राज्य में नागरिकों को अपने तप या श्रम से अर्जित संपत्ति के उपभोग की पूरी–पूरी स्वतंत्रता नहीं है?

श्रीकृष्ण : (हाथ से दोनों सभासदों को बैठने का संकेत करते हुए गंभीर स्वर में) मान्य सभासदों अक्रूर जी की बात से मेरी कोई सहमति नहीं है। हमारे साम्राज्य में प्रत्येक नागरिक को न्यायपूर्वक संपत्ति अर्जित करने और उसके उपभोग की पूर्ण स्वाधीनता है। नागरिकों की प्रसन्नता में ही राजा की प्रसन्नता है। राजा प्रजा का पिता कहलाता है। जिस तरह पिता अपने पुत्रों को अपने से अधिक योग्य और ऐश्वर्य संपन्न देखकर गौरवान्वित होता है इसी तरह राजा भी अपने नागरिकों की श्रीवृद्धि से ही श्रीमान होता है।

उद्धव : मान्य सभासदों! कृपया उत्तेजित न हों। इस पर शांति और गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। यदि किसी दस्यु की नजर पड़ गई तो यह बहुमूल्य मणि माननीय सत्राजित जी के लिए प्राण संकट उपस्थित कर सकती है। अतः इनके जीवन और मणि दोनों की सुरक्षा की दृष्टि से इसे द्वारकाधीश को सौंपने का अक्रूर जी का प्रस्ताव विचारणीय है।

श्रीकृष्ण : (कठोर स्वर में) क्या तुम चाहते हो कि धारक के जीवन की सुरक्षा का बहाना करके हम उसकी संपत्ति हथिया लें? तब हममें और लुटेरों में क्या भेद रह जाएगा? राज्य पर प्रत्येक नागरिक की संपत्ति की रक्षा का भी उत्तरदायित्व होता है और हम अपने इस दायित्व के निर्वाह के लिए कृत संकल्प हैं।

कृतवर्मा : मेरी राय में किसी नागरिक, राजपुरुष या सभासद का राजा की प्रतिस्पर्धा में खड़े होना उचित नहीं है।

पहला सभासद : कृपया अपनी बात को स्पष्ट करिए, कृतवर्मा जी।

कृतवर्मा : मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि माननीय सत्राजित ने इस स्यमंतक मणि को धारण करके राजकीय ऐश्वर्य को चुनौती दी है क्योंकि हमारे सम्राट के पास ऐसा कोई बहुमूल्य रत्न नहीं, जो इस मणि के समकक्ष रखा जा सके।

दूसरा सभासद : क्या अपने आभूषण पहनना भी अपराध है इस राज्य में? क्या आज से शासन से इसकी पूर्व अनुमति लेनी होगी कि कौन–से आभूषण पहने जाएँ, कौन–से नहीं?

सत्राजित : (पूर्ववत् रूआँसे स्वर में) आदरणीय द्वारकाधीश और मान्य सभासदों! स्यमंतक को सहजभाव से धारण करके मैं राज दरबार में आया

था। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि इस जरा–सी बात का इतना बतंगड़ बना दिया जाएगा। अपनी विशिष्ट वस्तु के प्रदर्शन का मोह मानव मात्र में होता है। इसी दुर्बलता का मैं भी शिकार हुआ हूँ। यदि आप लोगों को मेरा स्यमंतक धारण करना खटकता है तो भविष्य में इस गलती की पुनरावृत्ति न होने का वचन देता हूँ। द्वारकाधीश को अपने ऐश्वर्य–प्रदर्शन द्वारा अभिभूत करने या नीचा दिखाने का घृणित विचार मेरे मन में कभी उठा ही नहीं।

(खड़े होकर श्रीकृष्ण को अभिवादन करके जाने लगता है। उसके चेहरे ओर चाल में बेचैनी है।)

श्रीकृष्ण : रुकिए सत्राजित जी, रुकिए .... सत्राजित जी रुकिए ..... (तो भी सत्राजित रुकता नहीं। उसके पीछे पूर्वोक्त दोनों सभासद भी सभागार से चले जाते हैं।)

श्रीकृष्ण : (लंबी साँस लेकर) सचमुच, आप लोगों ने तो बातों का बतंगड़ बना डाला। संपूर्ण राजकीय शक्ति और ऐश्वर्य का अकेले उपभोग करनेवाले अधिपति को आप क्या कहकर पुकारेंगे उद्धव?

उद्धव : मैं उसे निरंकुश और 'प्रजा–पीड़क राजा' की संज्ञा दूँगा भगवन्।

श्रीकृष्ण : अक्रूर जी, आपकी दृष्टि में आदर्श राजा कैसा होना चाहिए?

अक्रूर : आदर्श राजा वह है जो स्वयं को जनता का सेवक माने, जनता की सुख–सुविधा का पूरा–पूरा ध्यान रखे और जनहित में अपने निजी हितों को सहर्ष उत्सर्ग कर देने के लिए सन्नद्ध रहे।

श्रीकृष्ण : आदर्श राजा का कोई उदाहरण दे सकेंगे आप।

अक्रूर : मैं राम को आदर्श राजा मानता हूँ।

श्रीकृष्ण : क्यों?

अक्रूर : इसलिए कि उन्होंने लोक–रंजन के लिए अपनी प्राणवल्लभा सीता को भी, जिनका प्रसव काल सन्निकट था, त्याग दिया था।

श्रीकृष्ण : सीता–त्याग के पीछे राम का भला क्या उद्देश्य रहा होगा?

उद्धव : सीता–त्याग 'रामराज्य' में जनता की अभिव्यक्ति–स्वातंत्र्य का ज्वलंत उदाहरण है महाराज।

श्रीकृष्ण : (मुस्कुराते हुए) क्या आप लोग रामराज्य का कोई विलोम बता सकेंगे?

कृतवर्मा : रावण राज्य वासुदेव।

श्रीकृष्ण : कृतवर्माजी, क्या आप रावण राज्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे?

कृतवर्मा : रावण–राज्य में संपूर्ण राजकीय शक्ति रावण के हाथ में केंद्रित थी। समग्र राजकीय ऐश्वर्य और शक्ति का वह अकेले उपभोग करता था। सभी को उसके उचित–अनुचित कार्यों का समर्थन करना पड़ता था। विरोध में उठा हाथ काट दिया जाता था। सत्परामर्श देनेवाले भाई विभीषण को उसने राज्य से निष्कासित कर दिया था। कच्ची नींद से जगाए गए कुंभकर्ण ने भी जब सीताहरण के गर्हित कर्म के लिए रावण को धिक्कारा तो उसने उसे जबर्दस्ती बहुत अधिक मदिरा पिलाकर राम के साथ निहत्थे और अकेले ही युद्ध करने के लिए भेज दिया और परिणाम हुआ उस महाबली की मौत।

श्रीकृष्ण : (सभी सभासदों की ओर देखते हुए) तो क्या द्वारका में आप लोग उसी रावण राज्य की स्थापना करना चाहते हैं? (लंबी साँस लेकर) आज की यह घटना साधारण नहीं है। इसमें मुझे भावी अनिष्ट की छाया दिखाई दे रही है। (ठंडी साँस लेकर सिंहासन से उठकर खड़े होते हैं तभी नेपथ्य में मध्याह्न की सूचना देने वाली घंटा–ध्वनि होती है। सभी द्वार से बाहर चले जाते हैं।)

दृश्य–2

स्थान : सत्राजित के भवन का बैठक कक्ष। समय : रात्रि का प्रथम प्रहर। सत्राजित और दो किशोर आसंदिकाओं पर सिर झुकाए बैठे हैं। किशारों की आँखें सूजी हुई और लाल दिखाई दे रही हैं। लगता है ये बहुत समय से रोते रहे हैं। दो महिलाएँ कुछ बच्चे–बच्चियों के साथ फर्श पर बिछे मखमली कालीन पर बैठी हैं। रह–रह कर उनकी सिसकियों से कक्ष की स्तब्धता भंग हो जाती है। सहसा दो सेवकों का प्रवेश। सेवक

सत्राजित को प्रणाम कर सिर झुकाकार एक ओर खड़े हो जाते हैं। उन्हें मौन देखकर महिलाओं और बच्चों की सिसकियाँ और तेज हो जाती हैं।)

सत्राजित : (रूंधे गले से) धैर्य से काम लो कल्याणी! आह, मेरी दाहिनी भुजा कट गई! अनुज वधु मंदाकिनी का सिंदूर पुँछ गया, बच्चे अनाथ हो गए। (फफक–फफककर रो पड़ता है।)

एक सेवक : (हाथ जोड़कर) धीरज रखें स्वामी। कुँअर के विषय में ऐसे अनिष्ट की आशंका न करें। हो सकता है शिकार का पीछा करते–करते वे वन में कहीं भटक गए हों और अब सकुशल लौटकर आ रहे हों।

सत्राजित : नहीं सुलोचन। तीन दिन हो गए। प्रसेन अब कभी लौटकर नहीं आएगा, कभी नहीं, कभी नहीं। (रो पड़ता है, सभी रोने लगते हैं। चुप होकर) वह स्यमंतक धारण करके गया था। राजा और उसके चाटुकारों की कई दिनों से उस पर नजर लगी थी। निस्संदेह राजपुरुषों ने वन के एकांत में प्रसेन की हत्या करके वह मणि हथिया ली है। हाय, मेरा प्रिय सहोदर। (दोनों हथेलियों से आँखें ढककर रो पड़ता है। कक्ष में पुनः सिसकियों की आवाज तेज हो जाती है। अचानक गवाक्ष के पास कुछ आहट होती है। दूसरा सेवक दौड़कर बाहर जाता है। तभी जाते हुए घोड़े की टापें सुनाई देती हैं। कमरे में स्तब्धता छा जाती है।)

दूसरा सेवक : (फुसफुसाते हुए) लगता है किसी गुप्तचर ने हमारी बातें सुन ली हैं। (सभी के चेहरे पीले पड़ जाते हैं। प्रकाश लुप्त हो जाता है और काफी देर तक नेपथ्य में रोने की आवाजें सुनाई देती रहती हैं।)

दृश्य–3

(द्वारका का वही राज सभागार। समय रात का वही प्रथम प्रहर। श्रीकृष्ण और अन्य सभासद यथास्थान बैठे हैं। सत्राजित का आसन खाली है)

श्रीकृष्ण : (खड़े होकर) मान्य सभासदों! आप सभी जानना चाह रहे होंगे कि यह आपात बैठक किसलिए बुलाई गई है? आज ऐसा प्रसंग उपस्थित हो गया है जिसने शासन की अनिवार्यता और प्रासंगकिता पर प्रबल प्रश्नचिह्न लगा दिया है। 'शासन क्यों और किसलिए?' विषय पर मैं आपकी निर्भीक और स्पष्ट राय जानना चाहता हूँ ताकि तदनुसार अपने वर्तमान कर्तव्य का निश्चय कर सकूँ। (बैठ जाते हैं।)

उद्धव : महानुभाव, शासन जनता की सुरक्षा के लिए होता है।

पहला सभासद : जनता को बिना भेद–भाव के उन्नति के अवसर देना और सुविधाएँ उपलब्ध कराना शासन का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है।

श्रीकृष्ण : आप लोगों ने कंस के विरुद्ध विद्रोह करके हम दोनों भाइयों के हाथ में राज्य की बागडोर क्यों सौंपी थी?

दूसरा सभासद : इसलिए कि कंसराज्य आतंक का पर्याय हो गया था और आप दोनों भाई अपने प्राणों पर खेलकर जनता के दुख–दर्द दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे।

श्रीकृष्ण : (भरे गले से) तो जनता का दुख–दर्द अपने ऊपर झेलनेवाला शासक ही आपको चाहिए न।

सभी : (एक स्वर में) निस्संदेह।

श्रीकृष्ण : (उसी स्वर में) मान्य सभासदों! मुझे खेद के साथ यह घोषित करना पड़ रहा है कि हमारा राज्य भी अब आतंक का पर्याय बन चुका है। मुझ पर कलंक का प्रसंग.....

द्वारपाल : (सहसा प्रवेश करके) महाराज उपस्थित है।

श्रीकृष्ण : कौन?

द्वारपाल : राज्य का प्रधान गुप्तचर दीर्घलोचन।

श्रीकृष्ण : उसे तुरंत उपस्थित करो।

द्वारपाल : जो आज्ञा। (जाता है)

दीर्घलोचन : (प्रवेश करके) महाराज की जय हो।

श्रीकृष्ण : कहो, क्या समाचार है दीर्घलोचन?

दीर्घलोचन : महाराज, आज तीन दिन हो गए। हमारे गुप्तचरों और सैनिकों ने वन का चप्पा–चप्पा छान मारा किंतु, प्रसेन का कहीं पता नहीं लगा। सत्राजित जी के सेवक भी निराश होकर लौट आए हैं। अभी–अभी एक गुप्तचर से सूचना मिली है कि ... (सिर झुका लेता है।)

श्रीकृष्ण : बोलो, रुक क्यों गए?

दीर्घलोचन : महाराज, कहने का अपराध क्षमा हो। माननीय सत्राजित जी का अभियोग है कि आपके संकेत पर मणि हथियाने के लिए राजपुरुषों ने प्रसेन की वन में गुप्त रूप से हत्या कर दी है।

एक सभासद : (तलवार निकालकर चीखते हुए पैर पटककर खड़ा हो जाता है।)

उस दुरात्मा का इतना दुस्साहस। आज की रात उसके जीवन की आखिरी रात होगी।

श्रीकृष्ण : (उसे बैठने का संकेत करते हुए शांत स्वर में) प्रियवर सात्यकि। मेरे प्रति तुम्हारा अवांछनीय मोह ही तुम्हें उत्तेजित कर रहा है। माननीय सत्राजित का आरोप निराधार नहीं है। उसका बीजारोपण तो उसी दिन सभा में हो चुका था, जब अक्रूर जी ने उनके समक्ष स्यमंतक मुझे भेंट कर देने का प्रस्ताव रखा था, उद्धव ने उसे खतरे का कारण बताया था और कृतवर्मा जी ने उसे राजकीय ऐश्वर्य की प्रतिस्पर्धा के रूप में देखा था।

द्वारपाल : (प्रवेश करके) महाराज, गुप्तचर अधिकारी चारचक्षु आपसे अविलंब भेंट करना चाहते हैं।

श्रीकृष्ण : तुरंत भीतर भेज दो।

(द्वारपाल अभिवादन करके जाता है और गुप्तचर अधिकारी प्रवेश करता है।)

चारचक्षु : महाराजाधिराज की जय हो।

श्रीकृष्ण : कहिए चारचक्षु जी, क्या समाचार लाए?

चारचक्षु : महाराज, एक सघन वन में अश्व का कंकाल मिला है। पास ही, पगड़ी, तलवार और धनुष–बाण पड़े थे। उनकी पहचान कर ली गई है। वे कुंअर प्रसेन की ही वस्तुएँ है। किंतु मणि नहीं मिल पाई। पास ही मृत सिंह पड़ा था। लगता है, सिंह प्रसेन और अश्व दोनों को मारकर खा गया। किंतु सिंह को किसने मारा, यह पता नहीं लग पाया है। किसी ने सिंह को मल्लयुद्ध में पछाड़कर उसके जबड़े फाड़कर उसे मारा है। सिंह–हंता के पदचिह्न एक विशाल गुफा की ओर जाते हैं। गुफा के द्वार पर एक सुरम्य वाटिका है। लगता है, कोई वीर पुरुष गुफा में वास करता है। किंतु, उसका पता लगाने के लिए भीतर गए गुप्तचर और सैनिक दिनभर बीत जाने पर जी जब वापिस न लौटे और गुफा पर खड़े सैनिकों ने भीतर से आनेवाली भयंकर आवाजें सुनीं तो वे अपनी जान बचाकर भाग आए हैं।

श्रीकृष्ण : (गहरी साँस लेकर) ठीक है। आप साथ में चलने के लिए तैयार रहें। हम स्वयं स्यमंतक की खोज में इस वन में जाएँगे (दीर्घलोचन और चारचक्षु प्रणाम करके चले जाते हैं।) आज की आपात सभा भी अब समाप्त की जाती है। धन्यवाद।

(सभी सभासद अभिवादन करके चले जाते हैं। मंच पर श्रीकृष्ण अकेले रह जाते हैं।) अचानक प्रकाश बुझ जाता है। कुछ क्षण सन्नाटा। फिर हल्का प्रकाश वृत्त श्रीकृष्ण पर केंद्रित होता है। वे रंगमंच पर इधर से उधर टहल रहे हैं। उनकी मुद्रा से चिंता की गहरी रेखाएँ स्पष्ट दीख रही हैं। धीरे–धीरे उनका धीर गंभीर स्वर उभरता है।)

श्रीकृष्ण : आज तुम्हारे कारण यदुकुल कलंकित हो गया। अपने प्राणों पर खेलकर भी तुम्हें इस कलंक का परिमार्जन करना होगा। कीर्तिकामी शासक को चाटुकारों से सावधान रहना चाहिए। उन्होंने ही तुम्हारी कीर्तिनौका को डुबोया है। कृष्ण उद्धव को तो सुधारा जा सकता है क्योंकि उसका प्रेम निःस्वार्थ है, यद्यपि वह मोह की सीमा तक पहुँच चुका है। (मुट्ठी भींचकर निश्चय के स्वर में) किंतु, अवसरवादी अक्रूर और कृतवर्मा को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता, कभी नहीं। उन्हें राजसभा की सदस्यता से हटा देना ही उचित होगा। (प्रकाश तेज होता है और श्रीकृष्ण के मंद मुस्कान युक्त चंद्र मुख पर निश्चय की दृढ़ता दिखाई देती है। मधुर संगीत। अंधेरा)

दृश्य–4

(**स्थान** : वन। गुफा के सामने सुरम्य वाटिका में श्रीकृष्ण शिलाखंड पर बैठे हैं चारचक्षु, सात्यकि, सेना नायक, महाबल और कुछ सैनिक सामने खड़े हैं। एक सेना अधिकारी का प्रवेश।

सेना अधिकारी : महाराज की जय हो। आदेशनुसार घोड़ों को कुछ दूरी पर पेड़ों से बाँध दिया गया है और उनकी सुरक्षा के लिए सैनिक नियोजित कर दिए गए हैं।

श्रीकृष्ण : ठीक है। (उक्त अधिकारियों की ओर देखते हुए) भावी कार्य योजना के विषय में आप लोगों का क्या परामर्श है?

महाबल : महाराज, मैं अपने इन विश्वस्त वीर सैनिकों के साथ गुफा में प्रवेश करता हूँ। आप हमारी यहीं प्रतीक्षा करें। मैं शीघ्र ही उस गुफावासी वीर पुरुष का पता लगाकर लौटता हूँ।

श्रीकृष्ण : तथास्तु। रक्षा मंत्री सात्यकि भी आपके साथ जाएँगे।

(दो सशस्त्र सैनिक, चारचक्षु और श्रीकृष्ण रह जाते हैं। बाकी वीर गुफा में प्रवेश करते हैं।)

श्रीकृष्ण : चारचक्षु। कितना मनोरम उद्यान है यह। फलों के भार से केले के पेड. झुके जा रहे हैं, आम्र मंजरियों की मदिर गंध के साथ भाँति–भाँति के गुलाबों की सुगंध वातावरण को मादक बना रही है। पके हुए सेब फलों और लाल–गुलाबी गुलाबों का सौंदर्य नेत्रों को लुभा रहा है।

चारचक्षु : हाँ प्रभु। यह गुफा भी दुर्ग की भाँति सुदृढ. और सुदर्शन है।

(सहसा चीत्कार की ध्वनि। सभी चौंक कर गुफा द्वार की ओर देखते हैं। भीतर से उक्त सैनिक दस्ता कराहते–लंगड़ाते बाहर आता है। आतंक से सभी के मुख विवर्ण हो रहे हैं। वे जैसे तैसे श्रीकृष्ण के पास आकर गिर पड़ते हैं। एक सैनिक को छोड़कर शेष बेसुध हो जाते हैं। चारचक्षु सैनिक को बोलने का संकेत करता है।

सैनिक : (पीड़ा के कारण मुँह बिगाड़ते हुए रुक–रुक कर) प्रभु ... बचा .... इस ... स ... भी के प्रा .... ण .... संकट .... में ... हैं

(बेहोश हो जाता है)

(तभी महाबल और सात्यकि एक दूसरे का सहारा लेकर लँगड़ाते हुए आते हैं) और उसी तरह परस्पर सहारा लेकर श्रीकृष्ण के समीप खड़े हो जाते हैं दोनों बुरी तरफ हाँफ रहे हैं।)

सात्यकि : (हाँफते हुए रुक–रुक कर) प्रभु, वह गुहावासी अद्भुत वीर है। उसका शरीर जैसे वज्र का बना है। हम सभी के अस्त्र–शस्त्र उससे टकराकर तिनके की तरह टूट गए। उसकी हुँकार मात्र से सभी सैनिक दूर जा गिरे। हम दोनों ने निहत्थे उसका सामना करने की कोशिश की। किंतु उसके एक–एक हल्के तमाचे से ही हम संज्ञा–शून्य होकर गिर पड़े। जब हमने आँखें खोलीं तो वह पास ही खड़ा मुस्कुरा रहा....(दर्द से कराह उठता है।)

महाबल : महाराज उसने द्वंद्व युद्ध के लिए आपको बुलाया है। किंतु .....

श्रीकृष्ण : किंतु क्या?

महाबल : उसकी शर्त है कि आपके साथ कोई भी सहायक न रहे।

श्रीकृष्ण : (मुस्कुराकर खड़े होते हुए) ठीक है, मैं ही उस महावीर के हाथों की खुजली मिटाने का प्रयत्न करता हूँ। (पीतांबर का फेंटा कसकर जाते हुए) इन सैनिकों को होश में लाकर इनकी चिकित्सा का समुचित प्रबंध किया जाए।

सात्यकि, महाबल : (एक साथ) महाराज, रुकिए महाराज। हम आपको अकेले नहीं जाने देंगे।

श्रीकृष्ण : (बिना रुके, बिना मुड़े) आप लोग क्यों वचन–भंग करना चाहते हैं, उस अप्रतिम वीर की इच्छा पूरी करने के लिए मैं व्यग्र हो रहा हूँ। (उनकी मनोहर हँसी वातावरण में गूँज उठती है और वे जल्दी–जल्दी गुफा में प्रवेश कर जाते हैं।)

दृश्य–5

(गुफा के भीतरी भाग में बनी मल्ल–भूमि। उस वीर पुरुष के साथ श्रीकृष्ण मल्ल युद्ध करते दिखाई देते हैं। वीर शिथिल हो चुका है। अचानक उसे चित करके श्रीकृष्ण उसकी छाती पर सवार हो जाते हैं।)

वीर : (लंबी–लंबी साँसे लेते हुए) महा ... राज ... मैंने ... पह ... चान ... लिया ... आप मेरे . .. परम आराध्य श्रीराम हैं। मेरे ... भगवन ... आपके ... भार ... को... मैं नहीं ... सँभाल ... सकता ...

(अंजलि बाँध लेता है। श्रीकृष्ण मुस्कुराते हुए उठकर खड़े हो जाते हैं।)

श्रीकृष्ण : धन्य हो महावीर जामवान। तुमने मल्ल युद्ध में मुझे आज सचमुच संतुष्ट कर दिया।

जामवान : (चरणों में गिरकर) मेरे अपराध क्षमा करें भगवन। मेरे कारण आपको बड़ा कष्ट हुआ है। (श्रीकृष्ण उसे उठाकर छाती से लगा लेते

हैं और हँसते हुए पीठ थपथपा कर उसका अभिनंदन करते हैं।)

जामवान : (हाथ जोड़कर) भगवन भीतर चलकर मेरे गृह को पवित्र करें। (उन्हें लेकर एक सुसज्जित कक्ष में प्रवेश करता है। उन्हें सादर स्वर्णासन पर बैठाता है। अंतःपुर की ओर मुँह करके) महादेवी, ओ महादेवी! तुरंत आओ। देखो तो, मैं किन्हें साथ लाया हूँ? बेटी जामवती, जल्दी से चरण धोने के लिए गंगाजल और पात्र लेकर आओ। (कुछ क्षण बाद एक अधेड़ महिला आती है और उसके पीछे जल का पात्र और सोने का थाल लिए एक सुंदर तरुणी प्रवेश करती है। दोनों जामवान के पार्श्व में खड़ी हो जाती हैं। तरुणी पात्र से जल छोड़ती जाती है और जामवान और महिला श्रीकृष्ण के चरण धोते हैं।) महादेवी, आज हमारा जीवन सफल हो गया। आजतक हम जिनकी बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे, वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचंद्र आज हमें कृतार्थ करने स्वयं हमारे घर पधारे हैं। भगवन, मैंने सिंह को मारकर एक अद्‌भुत मणि उससे छीनी थी। दूसरे दिन उसकी खोज करते हुए आपके सैनिक गुफा में घुस आए। उनसे सारा वृत्तांत ज्ञात हुआ। उन्होंने मुझसे वह मणि माँगी। मेरे यह कहने पर कि अपने स्वामी श्रीकृष्णचंद्र को भेजो, मणि उन्हीं को दी जाएगी, उन्होंने मुझ पर हमला कर दिया। किंतु बेचारे मेरी हुँकार से ही बेहोश होकर गिर पड़े। तब मैंने उन्हें एक कोठरी में बंद कर दिया। वे सकुशल हैं।

(उसके संकेत पर एक सेवक सैनिकों को लेकर आता है। वे श्रीकृष्ण और जामवान को प्रणाम करके एक ओर खड़े हो जाते हैं। पुनः जामवान के संकेत पर सेवक एक स्वर्ण थाल में मणि लेकर उपस्थित होता है। जामवान थाल सहित वह मणि श्रीकृष्ण के चरणों में रख देता है।)

जामवान : (हाथ जोड़कर) भगवन, आपकी खोई हुई वस्तु ग्रहण कीजिए। इस अकिंचन की एक विनम्र प्रार्थना और है प्रभु। आशा है, आप उसे ठुकराएँगे नहीं।

श्रीकृष्ण : प्रार्थना कैसी, आदेश दीजिए आर्य। (महादेवी की ओर देखकर) भाभी, हमारे भैया अद्‌वितीय वीर हैं। लंका अभियान के समय त्रैलोक्य–जयी रावण भी इनके हाथों की खुजली नहीं मिटा पाया था यदि ये बूढ़े न होते तो मेरी भी क्या मजाल थी जो इनका सामना कर पाता । (खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। महादेवी भी मुस्कुराने लगती है।)

जामवान : भाभी नहीं, माँ कहें वासुदेव! और हमारे प्राणों से भी प्यारी इस पुत्री जामवती का पाणिग्रहण कर हमें कृतार्थ करें।

श्रीकृष्ण : (उठाकर दोनों को प्रणाम करते हुए) पूजनीया माँ और पिताजी, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

(अग्नि को साक्षी करके श्रीकृष्ण और जामवती का पाणिग्रहण संस्कार होता है। मंगल वाद्‌य बजते हैं। वर–वधू स्वर्णासनों पर बैठते हैं और सभी लोग जय–जयकार करते हैं। जामवान उन्हें बिदा देते हैं और उन्हें छोड़ने गुहाद्‌वार तक आते हैं।)

दृश्य–6

(द्‌वारका का उक्त सभागार। श्रीकृष्ण स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं। मंत्रिमंडल के सदस्य यथास्थान बैठे हैं। दो–दो सशस्त्र सैनिक दोनों पार्श्वों में खड़े हैं। सामने जनसमूह बैठा है।

श्रीकृष्ण : विधि मंत्रीजी, आज की सभा की कार्यवाही प्रारंभ कीजिए।

उद्‌धव : (श्रीकृष्ण का अभिवादन करके) राजसभा एवं मंत्रिमंडल के माननीय सदस्यों और उपस्थित प्रजाजन। महाराज की आज्ञा से आज की इस विशेष सभा की कार्यवाही प्रारंभ की जाती है। माननीय सत्राजित जी महाराज के पास आकर अपनी खोई हुई निधि प्राप्त करें। मखमल की बनी रत्नमंजूषा महाराज के सामने मेज पर रखता है। सत्राजित आकर सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है।

श्रीकृष्ण : (खड़े होकर) राजसभा एवं मंत्रिमंडल के मान्य सभासद, उपस्थित नागरिक गण। सत्राजित जी की जिस अद्‌भुत–अमूल्य मणि स्यमंतक के अपहरण का समाचार आप लोगों ने सुना था, वह प्राप्त हो गई है। (रत्नमंजूषा खोलते हैं। मणि का प्रकाश कक्ष में फैल जाता है। उसे देखकर लोगों की आँखें चौंधिया जाती हैं। वे उसे सत्राजित को सौंपते हैं। सत्राजित उसे लेकर चुपचाप खड़ा

रहता है।) सभी लोग मेरा एक विनम्र निवेदन और सुनें। नागरिकों के जीवन और संपत्ति की रक्षा का संपूर्ण दायित्व राज्य पर है। राज्य को उसके कर्तव्य का स्मरण दिलाने और चूक होने पर उस पर उँगली उठाने के अधिकार का प्रयोग निर्भयता से करना चाहिए। (करतल ध्वनि के साथ जय–जयकार होता है। श्रीकृष्ण हाथ उठाकर सबको शांत रहने का संकेत करते हैं।) अपराधी चाहे कोई भी हो उसे क्षमा नहीं किया जाएगा। अक्रूर और कृतवर्मा को पदच्युत किया जाता है क्योंकि उन्होंने सत्राजित को मानसिक आघात पहुँचाया है और शिकार के प्रसंग में सिंह द्वारा अक्रांत प्रसेन की मृत्यु में राजकीय षडयंत्र का संदेह जगाया है। दोनों व्यक्तियों की ओर साभिप्राय तीखी नजरों से देखते हैं। दोनों अपने–अपने आसनों से उठकर सिर झुकाए सभागार से चले जाते हैं।

सत्राजित : (रोते हुए श्रीकृष्ण के चरणों पर गिरकर) अपराध क्षमा हो, क्षमा हो प्रभु! मैंने आप पर झूठा आरोप लगाया जिसके कारण स्वयं आपको भारी कष्ट उठाकर इस तुच्छ मणि की खोज करनी पड़ी। फफक–फफक कर रो पड़ता है।)

श्रीकृष्ण : (उसे छाती से लगाते हुए) आप निरपराध है आर्य। दोषी तो मैं हूँ, जो मैंने इन चाटुकारों को यथासमय दंडित नहीं किया।

सत्राजित : मैं इस पाप का प्रायश्चित करना चाहता हूँ प्रभु। आप मेरा एक विनम्र अनुरोध स्वीकार करने की कृपा करें।

श्रीकृष्ण : अनुरोध कैसा, आदेश दें आर्य।

सत्राजित : (हाथ जोड़कर) अपनी इकलौती कन्या सत्यभामा को आपकी सेवा में समर्पित करने का मैंने निश्चय किया है। कृपया आप उसके पाणिग्रहण की स्वीकृति प्रदान कर हमारे जीवन को धन्य कीजिए।

श्रीकृष्ण : (मुस्कुराते हुए) मुझे आपका यह प्रस्ताव स्वीकार है आर्य। किंतु, आप बड़ी चतुराई से जिसे दहेज के रूप में मुझे देना चाहते हैं, वह स्यमंतक मैं नहीं लूँगा।

(प्रजाजन श्रीकृष्ण की जय–जयकार करते हैं। पर्दा गिरता है।)

– महाराज बाग, भैरवगंज, सिवनी, जिला–सिवनी, मध्य प्रदेश–480661

❑❑❑

जन्नत

डॉ. पंकज साहा

कसाई मोहल्ला। शहर के एक छोर पर बसी मुस्लिमों की सघन बस्ती। जहाँ दिन में भी कोई हिंदू जाने से डरता था, वहाँ वह यानी सुभाष कुमार शाम को चहल–कदमी करता हुआ मौलवी साहब का घर पूछते–पूछते मोहल्ले के भीतरी भाग में धँसता जा रहा था। किसी नुक्कड़ पर जब दो–चार लोग उसे कनखियों से देखकर खुसर–फुसर करने लगते तो वह उन्हीं से मौलवी साहब का पता पूछ लेता। जीनत ने उसे पहले ही बता दिया था कि कोई भी यदि शक की निगाह से देखे तो उसे मेरे अब्बू का नाम बता दीजिएगा। मौलवी साहब का नाम सुनते ही लोग अदब से पेश आते और उनके घर का रास्ता बता देते। उसे समझने में देर नहीं लगी कि इस मोहल्ले में मौलवी साहब की सब इज्जत करते हैं।

तंग गलियों से गुजरते हुए वह एक दरवाजे के समीप खड़ा हो गया। दरवाजे पर लाल रंग का मखमल का पर्दा लटक रहा था। परदा एक तरफ थोड़ा खिसका हुआ था। उसने धीरे से पुकारा, "जीनत।"

अंदर कुर्सी पर बैठी एक युवती चिहुँककर उठी और भागती हुई अंदर जाकर बोली, "जीनत, लगता है तुम्हारे सर आए हैं।"

जीनत लगभग दौड़ती हुई आई और उसे आदर के साथ भीतर ले गई। उसने उसे कुर्सी पर बैठने को कहा जहाँ थोड़ी देर पहले वह युवती बैठी हुई थी। कुर्सी के आस–पास भीनी–भीनी खुशबू पसरी हुई थी। उसे ऐसा लगा मानो कुर्सी पर कोई गुलदस्ता रखा हुआ था। बैठकखाना अत्यंत साफ–सुथरा एवं सजा हुआ था। थोड़ी ही देर में जीनत कुछ पुस्तकें एवं कॉपियाँ लेकर आई एवं फर्श पर बिछे मोटे कालीन पर बैठ गई। उसने लक्ष्य किया कि भीतरी दरवाजे पर लटके सुर्ख रंग के मखमल के पर्दे के पीछे कोई आँख उस पर टिकी हुई है। वह उधर से ध्यान हटाकर जीनत को पढ़ाने में मशगूल हो गया। लगभग आधा घंटा बाद भीतर से एक मधुर आवाज आई, "जीनत।" फिर मेंहदी लगी एक गोरी कलाई परदे के पीछे से नमूदार हुई। उसने देखा लंबी पतली–पतली उँगलियों ने एक खूबसूरत तश्तरी को पकड़ रखा है, जिस पर एक चाय की प्याली और कुछ बिस्कुट रखे हैं। जीनत ने तश्तरी को थाम लिया और उसके पास वाले टेबुल पर रख दिया। जीनत को उसने व्याकरण का कुछ कार्य दे रखा था। बिस्कुट के साथ चाय पीते हुए वह यही सोचता रहा कि जिसकी कलाई इतनी सुंदर है, वह कितनी सुंदर होगी। उसने अनुमान लगाया कि वह जीनत की बड़ी बहन हो सकती है।

दूसरे दिन वह अपनी जिज्ञासा को दबाकर नहीं रख सका और स्कूल में टिफिन के समय जीनत को अकेली पाकर उसके परिवार के बारे में पूछ ही लिया। जीनत ने बताया कि उसके परिवार में उसके अलावा सिर्फ अब्बू एवं आपा शबाना ही है। अम्मी एक बीमारी में गुजर गई हैं। अब्बू ने

हमारे वास्ते निकाह नहीं किया। अब्बू पहले अपने मोहल्ले के मदरसे में मौलवी थे। अम्मी की मौत के बाद उन्होंने मदरसा छोड़ दिया। अभी सदर बाजार में उनका होमियोपैथी दवाइयों का दवाखाना है। शबाना के बारे में उसे और कुछ जानने की इच्छा थी, तभी जीनत की एक सहेली आ गई और वह उसके साथ खेलने चली गई।

इस शहर में आए हुए उसे लगभग सात–आठ माह ही हुए थे। शहर के एक को–एड स्कूल में हिंदी शिक्षक के पद पर उसकी नियुक्ति हुई थी। कुछ ही दिनो में वह विद्यार्थियों का प्रिय शिक्षक बन गया था। वह दसवीं कक्षा का वर्ग–शिक्षक था। वर्ग दो भागों में विभाजित था। एक तरफ लड़के बैठते दूसरी तरफ लड़कियाँ। लड़कों की तुलना में लड़कियों की सँख्या न केवल अधिक थी बल्कि वे लड़कों से ज्यादा होशियार भी थीं। अनेक विद्यार्थियों ने उससे ट्यूशन पढ़ाने का आग्रह किया। उसने सबको मना कर दिया, पर जीनत के मनुहार को ना न कर सका। जीनत कक्षा की सबसे तेज लड़की थी। मुस्लिम होते हुए भी उसकी हिंदी इतनी अच्छी थी कि वह दंग रह गया था। कबीर, सूर, तुलसी, रहीम, रसखान के अनेक पद एवं दोहे उसे कंठस्थ थे। आधुनिक कवियों की भी अनेक कविताएँ उसे याद थीं। उसकी लिखावट भी अत्यंत सुंदर एवं साफ थी। स्कूल में हिंदी की सारी प्रतियोगिताओं में वह प्रथम आती थी। स्कूल में वह 'हिंदी का हीरा' नाम से जानी जाती थी। उसे लगा कि इस हीरे को थोड़ा तराशा जाए तो इसकी चमक बढ़ जाएगी। इसीलिए उसने उसका आग्रह मान लिया था।

वह बैचलर था और स्कूल के पास ही एक कमरा किराये पर लेकर रह रहा था, अतः जीनत को अपने यहाँ बुलाना मुनासिब नहीं समझा। कसाई मोहल्ले के बारे में उसने सुना था कि वह बहुत खतरनाक मोहल्ला है। शहर के अधिकांश गुंडे–मवाली, चोर–उचक्के उस मोहल्ले में रहते हैं। कोई वारदात होने पर पुलिस भी उस मोहल्ले में घुसने से डरती है। पर वह उस मोहल्ले में जाने से जरा भी नहीं डरा। उसकी बड़ी वजह यह थी कि उसने अपने सीने में इतने बड़े–बड़े जख्म खाए थे कि उसे अपनी जिंदगी से प्यार ही नहीं रह गया था। जख्मों ने उसे कवि बनाया और उसके गीत–गजल, पत्र–पत्रिकाओं में छपने एवं प्रशंसित होने लगे।

उस दिन जब वह जीनत को पढ़ाने जा रहा था तो उसका मन बहुत पुलकित था। हिंदी की बहुत प्रसिद्ध पत्रिका ने उसका एक गीत प्रमुखता से छापा था। पत्रिका हाथ में थी और वह जीनत को दिखाना चाहता था। किसी ने कहा भी है– "खुशी बाँटने से बढ़ती है।"

पत्रिका में अपने सर की रचना को देख जीनत खुशी से उछल पड़ी और आपा–आपा कहती हुई भीतर भागी। लौटी तो पत्रिका उसके हाथ में नहीं थी। उसने कहा, "आपा पत्रिका देख रही हैं। जब आप जाने लगिएगा, तब दे देंगी।

रात में बिस्तर में लेटे–लेटे वह पत्रिका के पन्ने पलट रहा था कि अचानक तीसरे कवर पृष्ठ पर गोंद से चिपकी एक पर्ची को देखकर वह चौंक पड़ा। गुलाबी रंग के एक कागज के छोटे टुकड़े पर मोती जैसे अक्षरों में एक छोटी कविता लिखी हुई थी–

"पीड़ा बहुत है गीत में
शब्द हैं इतने इतने करुण
टपक रहा ज्यों घनानंद की
आँखों से टप–टप वरुण।"

कविता के नीचे कोई नाम नहीं था, पर वह इतना अनजान भी नहीं था। एक कवि की पंक्तियाँ उसे याद आई–

"चाहे कोई दुआ–सलाम न लिख
खत तेरा और मैं न पहचानूँ
खत के नीचे भले तू
नाम न लिख।"

'घनानंद' शब्द से वह चौंक उठा। घनानंद निश्चित रूप से हिंदी के महान कवि हैं, परंतु उनकी लोकप्रियता–साहित्य के विद्यार्थियों तक ही सीमित है। घनानंद के संदर्भ में कवि ब्रजनाथ की एक पंक्ति उसे याद आई–

"समुझै कविता घन आनंद की हिय–आँखिन नेह की पीर तकी।"

उसके मन में दो सवाल कौंधने लगे। क्या शबाना हिंदी–साहित्य की छात्रा रह चुकी है? क्या वह प्रेम की पीड़ा का स्वाद चख चुकी है? शबाना के बारे मे जानने की उत्कंठा वह दबाकर नहीं रख सका और दूसरे ही दिन स्कूल में अवकाश देखकर जीनत से पूछ ही बैठा। जीनत ने जो बताया उसका सार इस प्रकार है–

शबाना को स्कूल–जीवन से ही हिंदी कविताएँ, गीत एवं उर्दू की शेरो–शायरी बहुत पसंद थी। स्थानीय कॉलेज में हिंदी ऑनर्स की वह सबसे तेज छात्रा थी। बी.ए. फाइनल की परीक्षा में शबाना का सेंटर पास के शहर के एक कॉलेज में पड़ा था। वहाँ जाने–आने के लिए उसकी कुछ सहेलियों ने एक मारुति वैन बुक की थी। रफीक उसका ड्राइवर था। वह फिल्मी हीरो की तरह खूबसूरत था। वह शबाना को वैन में सबसे पहले लेता और सबसे आखिर में छोड़ता था। लगभग आठ–दस दिनों के आने–जाने के क्रम में रफीक ने शबाना पर क्या जादू कर दिया कि उसे सारी दुनिया में सिर्फ रफीक ही दिखाई देने लगा। वह हमेशा खोई–खोई रहने लगी। मौलवी साहब ने दुनिया देखी थी। वे ताड़ गए। पत्नी के देहांत के बाद वे अपनी बच्चियों की माँ एवं मित्र भी बन गए थे। उन्होंने प्यार से शबाना से पूछा तो शबाना ने सब–कुछ बता दिया। रफीक के अब्बू की दो बीबियों से कुल आठ लड़के और तीन लड़कियाँ हैं। उनका एक छोटा–सा होटल है, जिससे परिवार का खर्च किसी तरह चल जाता है। रफीक कम पढ़ा–लिखा, परंतु काफी होशियार युवक था। मौलवी साहब ने बेटी की इच्छा देखकर और यह सोचकर कि रफीक को अपना घर जमाई बना लेगा और अपने दवाखाने में अपना असिस्टेंट बना लेगा, रफीक के साथ शबाना का निकाह करवा दिया। कुछ ही दिनों में शबाना को पता चल गया कि रफीक अत्यंत महत्वाकांक्षी युवक है। वह बड़ी–बड़ी बातें करता, बड़े–बड़े ख्वाब देखता, बहुत–बहुत पैसे कमाना चाहता था। इसीलिए वह दुबई जाने की जिद करने लगा और शबाना पर दुबई जाने के लिए मौलवी साहब से रुपया माँगने का दबाव बनाने लगा। शबाना को उसकी जिद के आगे झुकना पड़ा। रफीक दुबई चला गया। कुछ दिनों तक तो मोबाइल फोन पर उन लोगों का संपर्क बना रहा, फिर टूट गया। मोहल्ले के कुछ लोग दुबई में छोटी–मोटी नौकरी करते हैं। उनके मार्फत पता चला कि रफीक ने वहाँ के एक धनी शेख की इकलौती बेटी से निकाह कर लिया है और घर जमाई बनकर ठाठ से रह रहा है। शबाना का दिल तो टूटा, पर आशा की डोर ना टूटी। देखते–देखते चार वर्ष गुजर गए। मौलवी साहब ने शबाना को समझाया कि रफीक को तलाक दे दे और दूसरा निकाह कर ले। पर शबाना टालती रही।

टूटे दिल की पीड़ा टूटा दिल वाला ही समझ सकता है। उसे शबाना से सहानुभूति हो गई। फिर उनके बीच ऐसी चैटिंग शुरू हो गई जो फेसबुक की चैटिंग नहीं थी, बुक चैटिंग थी। सच तो यह है कि वह बुक के माध्यम से मूक चैटिंग थी।

जीनत से उसे पता चला था कि शबाना के पास उर्दू–हिंदी के शायरों एवं गीतकारों का अच्छा संग्रह है। उसने जीनत से कहा कि उसके आपा के पास वसीम बरेलवी की कोई पुस्तक हो तो ले आए। जीनत वसीम बरेलवी की 'मेरा क्या' पुस्तक ले आई। पुस्तक देखकर उसका चेहरा खिल गया। बहुत दिनों से इस पुस्तक की उसे तलाश थी।

अपने कमरे में आकर पुस्तक के पन्ने पलटने लगा तो एक रेखांकित शेर पर उसकी नजरें ठहर गईं–

तेरे साथ रहने पे बस नहीं, तुझे भुलाना भी मुहाल है,

मैं कहाँ गुजारूँ ये जिंदगी, मेरे सामने ये सवाल है।

भले ही ये पंक्तियाँ वसीम जी की थीं, पर वह समझ गया था कि ये रफीक के प्रति शबाना की दर्द भरी आवाज थी। उसे उससे अपनापा–सा लगने लगा। उसी पुस्तक के एक शेर को रेखांकित कर उसने दूसरे दिन पुस्तक लौटा दी।

शेर है–

अजीब दर्द का रिश्ता दिखाई देता है

कि हर गम–आश्ना अपना दिखाई देता है।

ट्यूशन पढ़ाकर वह लौटने लगा तो जीनत एक जिल्द लगी पुस्तक दे गई। किताब खोलते ही वह समझ गया कि किताब वही है, सिर्फ उस पर जिल्द चढ़ा दी गई है। शायद जीनत को धोखा देने के लिए।

अपने कमरे में पहुँचकर वह सबसे पहले पुस्तक के पन्ने पलटने लगा। ताजा रेखांकित शेर पर नजरें टिकीं–

दुख अपना हमको बताना नहीं आता।
तुमको भी तो अंदाजा लगाना नहीं आता।

उसने भी एक शेर को रेखांकित करके पुस्तक लौटा दी। पंक्तियाँ थीं–

मैं उस मकान में हूँ और जिंदा हूँ,
'वसीम' जिसमें हवा का गुजर नहीं होता।

जिल्द बदलकर तुरंत वह किताब लौटी। नई रेखांकित पंक्तियों पर नजरें ठहर गईं–

वह दिन गए कि मुहब्बत थी जान की बाजी,
किसी से अब कोई बिछड़े, तो मर नहीं जाता।

इसी तरह निदा फाजली, बशीर बद्र, गुलजार, साहिर, घनानंद जैसे शायरों एवं कवियों की पुस्तकों का आदान–प्रदान और मूक चैटिंग का खेल चलता रहा। न तो उसने शबाना को कोई खत लिखा, न शबाना ने उसे। न शबाना ने उससे कभी बात करने की कोशिश की, न उसने शबाना से। उन दोनों के बीच पुस्तकों के माध्यम से ही बातचीत होती रही। यह एक प्रकार का खेल था और दोनों को इसमें मजा आ रहा था। दोनों मानो अलग–अलग पैराशूटों में लटके हवा में अठखेलियाँ कर रहे थे कि दोनों के पैराशूटों की डोर आपस में उलझ गई।

शहर में लगे एक पुस्तक मेले में उसे वसीम बरेलवी की एक पुस्तक 'मौसम अंदर बाहर के' मिल गई। उसने जीनत के माध्यम से शबाना तक वह पुस्तक पहुँचा दी। पुस्तक लौटने पर एक शेर पर नजर पड़ते ही उसका दिल इतनी जोर से धड़कने लगा कि धड़कन कान तक पहुँच गई। शेर को डबल बॉक्स बनाकर घेरा गया था। दोनों बॉक्स के बीच की खाली जगह में सुंदर फूल बने हुए थे। शेर कुछ नहीं, बहुत कुछ कह रहा था और उससे, सिर्फ उससे कह रहा था–

कैसी बेसम्तियाँ थीं तुम्हारे बगैर
कोई रास्ता कहीं को निकलता न था।

पुस्तकों के माध्यम से हवा में उड़ने वाले उनके पैराशूट धीरे–धीरे उस ओर उड़ने लगे, जिधर दिल पर चोट खाए लोग जाने से कतराते हैं। दोनो में से किसी ने भी पैराशूट की उलझी डोर को सुलझाकर मुक्त होने का प्रयास नहीं किया और न ही मर्यादा का उल्लंघन किया।

"पहला प्यार अंतिम प्यार होता है"– यह उक्ति सुभाष को झूठ प्रतीत होने लगी थी और महाकवि रवींद्रनाथ की यह पंक्ति सत्य लग रही थी– "प्रेमेर फाँद पाता ऐ भुवने, कोखोन जे के धरा पोड़े के जाने।" अर्थात् इस भुवन में प्रेम का फंदा बिछा हुआ है, कब कौन इसमें फँस जाएगा, कोई नहीं जानता।

उनके प्रेम में पहाड़ी नदी के समान न अल्हड़ता थी न समतल नदी के समान प्रवाह बल्कि उनका प्रेम झील के जल के समान निर्मल एवं शांत था।

सुभाष की पहले प्रेम–कथा विस्तार से जानने की बजाय सार रूप में इतना जान लें कि ए–ग्रेड की नौकरी न मिल पाने के कारण उसकी प्रेमिका ने उसे ठुकराकर एक डॉक्टर से शादी कर ली थी।

सुभाष दूध का जला था, शबाना भी। दोनों अपनी–अपनी सीमाओं को भी जान रहे थे, अतः किताबों के मार्फत उपजा उनका प्रेम किताबों तक ही सीमित रहा।

एम. ए. टॉपर, नेट क्वालिफाइड होने के बावजूद कॉलेज की नौकरी में कभी उसका चयन नहीं हो सका। कॉलेज की नौकरी में पैसा, पैरवी, जातिवाद, प्रांतीयतावाद, संस्थावाद, गुरुवाद, ग्रुपवाद का घिनौना खेल देखकर सुभाष ने आई. ए. एस. की तैयारी शुरू कर दी। ए–ग्रेड की नौकरी पाने की धुन उस पर सवार थी। पहली बार कुछ अंकों से क्वालिफाई न कर पाया, परंतु दूसरी बार अच्छा

रैंक मिला और फिर वह दिन भी आ गया, जिसका वह कई दिनों से इंतजार कर रहा था अर्थात् ट्रेनिंग पर जाने का।

उस शाम वह जीनत के घर आखिरी बार जा रहा था। दूसरे ही दिन शाम में ट्रेनिंग के लिए देहरादून जाना था। मन मे अपार खुशी थी, पर पैरो में तेजी न थी। पैर हाथी के पैरों की तरह जमीन पर पड़ रहे थे। मस्जिद के पास सन्नाटा और वहाँ पुलिस की कुछ गाड़ियों को देखकर उसे याद आया कि कल शाम इसी मस्जिद के सामने कुछ मुस्लिम लड़कों ने एक हिंदू लड़के को पीट–पीटकर मार डाला था। हिंदू समाज में जबरदस्त गुस्सा था। वे लोग मस्जिद को नुकसान न पहुँचाएँ इसीलिए पुलिस मुस्तैद थी।

ट्रेनिंग के लिए उसी दिन चिट्ठी मिली थी और वह सबसे पहले जीनत को, सच तो यह था कि जीनत के मार्फत शबाना को यह खबर देना चाहता था।

ट्यूशन का समय समाप्त होने को था। इसी समय शबाना चाय भिजवाती थी। उसने जीनत को ट्रेनिंग में जाने की बात बताई। जीनत का चेहरा सफेद हो गया। उसकी आँखों में आँसू आ गए। इससे पहले कि वह कुछ कहती अंदर खनाक से कुछ टूटने की आवाज आई। शायद चाय की प्याली। उसे लगा प्याली के साथ कुछ और भी टूटा है, जिसकी आवाज शायद सिर्फ उसने सुनी थी। उसी समय मौलवी साहब बाहर से घबराए हुए बैठक में आए और जीनत से बोले,– "जीनत, जल्दी से मास्टर साहब की चप्पल अंदर रख दो और बैठक का दरवाजा बंद कर दो।" फिर उससे मुखातिब होकर बोले, "मास्साब आप मेरे साथ आइये।"

वे उसे उस कमरे में ले गए जो बैठक से सटा था तथा जिसकी एक खिड़की बैठक में खुलती थी। मौलवी साहब ने कहा "मास्साब कुछ हिंदू उपद्रवियों ने सदर बाजार में मुस्लिमों की चौदह–पंद्रह दुकानें जला दी हैं। मुस्लिमों में जबरदस्त गुस्सा है। अभी आपका इस मुहल्ले से गुजरना मुनासिब न होगा। आज रात यहीं रुक जाइए। फजिर में कुछ इंतजाम कर दूँगा।"

तभी बैठक के दरवाजे पर दस्तक हुई। मौलवी साहब ने कमरे की बत्ती बंद कर दी और बेचैन होकर बैठक की ओर गए। बैठक में खुलने वाली खिड़की के समीप वह खड़ा हो गया। खिड़की पर ऐसा झीना परदा था, जिससे भीतर वाला बैठक पर नजर रख सकता था, पर बैठक से अंदर का दृश्य नहीं दिखता था।

मौलवी साहब ने सावधानी से पूछा, "कौन?" बाहर से किसी ने कुछ कहा, जिसके बाद मौलवी साहब ने दरवाजा खोल दिया। अंदर प्रवेश करने वाले चार लोग थे, जिनमें एक मौलवी साहब के सामने वाला पड़ोसी जाकिर मियाँ था। सुभाष जब ट्यूशन पढ़ाने आता तो अक्सर उसे अपने बरामदे में बैठा पाता। उसे देखते ही वह "आदाब अर्ज मास्टर साहब" कहता।

उनके अंदर आते ही मौलवी साहब ने दरवाजा बंद कर दिया और सभी को बैठने को कहा। जाकिर मियाँ ने कहा, "मौलवी साहब मुझे मालूम है कि आपने मास्टर साहब को अपने घर में छुपा रखा है।"

मौलवी साहब ने बेचैनी से कुर्सी पर पहलू बदला, लेकिन मौन रहे।

"आप उन्हें जाने दीजिये, वरना...।"

"वरना क्या?" मौलवी साहब ने तड़पकर पूछा।

"अगर मोहल्ले के लौंडों को पता चल गया तो वे आपके घर पर हमला कर देंगे। फिर हम भी कोई मदद नहीं कर सकेंगे।"

"उन्हें तुम्हारे बताए ही तो पता चलेगा न? और फिर मास्साब ने क्या कसूर किया है?"

"जिनकी दुकाने जलीं, उनका क्या कसूर था?" एक ने तैश में कहा।

"कल जिस लड़के को कुछ लौडों ने पीट–पीटकर मार डाला उसका कसूर मात्र इतना था कि उसने अपनी बहन के साथ हुई छेड़खानी का विरोध किया था?"

"तो क्या आप उनकी तरफ हैं?" दूसरे ने दबे स्वर में पूछा।

"नहीं, उनकी इस करतूत को मैं सही नहीं कहता, पर क्रिया के विपरीत प्रतिक्रिया तो होगी ही न। ऊरी पर आतंकी हमले की प्रतिक्रिया में

हिंदुस्तानी फौज द्वारा किए गए सर्जिकल स्ट्राइक का अगर कोई मुसलमान समर्थन करता है, तो क्या उसे मुसलमान विरोधी मानोगे?"

"चचा ये दोनों अलग–अलग मुद्दे है", तीसरे आदमी ने कहा।

"चलो माना। अखलाक का मुद्दा तो अलग नहीं है न? कुछ हिंदू उपद्रवियों ने दादरी में अखलाक की हत्या कर दी। उस घटना की निंदा की जानी चाहिए, पर उसके बाद क्या हुआ? सारे मुल्क में कोहराम मच गया। अनेक लीडरों ने वोट बैंक के लिए घड़ियाली आसूँ बहाए। अनेक लेखकों ने असहिष्णुता की बात कहकर अपने पुरस्कार लौटाए। उस सूबे की सरकार ने तो एक करोड़ रुपये के मुआवजे का ऐलान भी कर दिया। पर यहाँ क्या हुआ? चौबीस घंटे बीत गए। एक भी लौंडा पकड़ा नहीं गया। सरकार को छोड़कर किसी भी पार्टी के किसी भी लीडर ने न तो इस घटना की निंदा की और न इस सूबे की सरकार ने मुआवजे का ऐलान किया। आखिर सरकार को हिंदू सियासत करने का मौका कौन देता है, बोलो?" बोलते–बोलते मौलवी साहब हाँफने लगे।

"मौलवी साहब, आप तो हिंदू मन की बात कर रहें है", चौथा जो अब–तक चुपचाप था, बोला।

"नहीं, मैं हिंदुस्तानी मन की बात कर रहा हूँ। तुम जैसे छोटी सोच के आदमियों के कारण ही हमारी कौम को शक की निगाहों से देखा जाता है। जरा सोचो जिस लड़के को बेरहमी से मार डाला गया उसके माँ–बाप पर क्या गुजर रही होगी? हमारी कौम से एक आदमी भी उनका हमदर्द बनने गया? मेरे मरीजों में हिंदुओं की बहुत बड़ी तादाद है। वे लोग मुझे भगवान मानते हैं। मेरे पैर छूते हैं। क्यों? क्योंकि अल्लाह की फजल से वे मेरी दवा से ठीक हो जाते हैं। हम उनके साथ खड़े होंगे तभी तो वे हमें अपना दोस्त समझेंगे। कबतक हम लीडरों का सिर्फ वोट बैंक बने रहेंगे? कबतक कुछ मौलानाओं के बहकावे में चलेंगे? अगर सारे मुसलमान एक होकर ऐलान कर दें कि दस साल वे अपने वोटिंग पावर का इस्तेमाल नहीं करेंगे, फिर देखना उनका मुस्लिम प्रेम किधर से छलकता है।"

जाकिर मियाँ बोला, "हम भी अमन–चैन से रहना चाहते हैं, पर ताली एक हाथ से तो नहीं बजती है।"

"सही कहा, सारे लोग अमन–चैन से रहना चाहते हैं। कुछ ही लोगों की नापाक हरकतों से कौम, मुल्क बदनाम होता है। बादशाह अकबर को हम महान क्यों कहते हैं? इसलिए न कि उन्होंने अपने शासन–काल में हिंदू–मुसलमान के बीच भाईचारा बनाने की तहेदिल से कोशिश की। सूफी संतों, पीर बाबाओं को हिंदू भी पूजते हैं, क्यों? आज के हुक्मरान लीडरान से यह आशा करना फिजूल है। पर हम अपने लेवल पर यह काम कर सकते हैं न?"

"आप सही फरमा रहे हैं मौलवी साहब। आपने हमारी आँखें खोल दीं। हम आपसे वादा करते हैं कि मास्टर साहब का बाल भी बाँका नहीं होने देंगे," उनमें जो सबसे बुजुर्ग था, बोला।

"हाँ–हाँ, हम मास्टर साहब की रक्षा करेंगे", बाकियों ने एक स्वर में कहा। मौलवी साहब का बेहरा खुशी से खिल उठा। उनकी आँखों में आँसू आ गए। सभी ने कुर्सी से उठते हुए एक साथ कहा, "अच्छा मौलवी साहब, खुदा हाफिज।"

मौलवी साहब ने कुरते की आस्तीन से आँसुओं को पोंछते हुए कहा, "अल्ला हाफिज।"

रात निर्विध्न कट गई। इस बीच शबाना एक बार भी उसके सामने नहीं आई। शायद उसे उसके ट्रेनिंग में जाने की खबर से गहरा सदमा लगा था या फिर किसी पराये मर्द के सामने वह नहीं आना चाहती थी। भोजन जीनत ही कमरे में दे गई।

अलसुबह कमरे के दरवाजे पर दस्तक हुई। सामने मौलवी साहब हाथ में एक बुर्का लिए खड़े थे। उन्होंने कहा, "मास्साब तकलीफ देने के लिए मुआफी चाहता हूँ, परंतु निकलने का यही सही वक्त है। आप यह बुर्का पहन लीजिए। शबाना आपको महफूज जगह पर छोड़ आएगी।"

गलियों वाले रास्ते से दोनों चल रहे थे। गली सुनसान थी। दोनों मौन थे। सुभाष के मन में

अनेक प्रश्न कौंध रहे थे, अनेक विचार आ–जा रहे थे। क्या शबाना सचमुच उससे मोहब्बत करने लगी है? क्या उसकी खातिर वह रफीक को तलाक दे देगी? लेकिन सिर्फ उसके चाहने से क्या होगा। उसका परिवार–समाज एक विधर्मी से शबाना का निकाह क्यों करवाना चाहेगा? हाँ, अगर वह धर्म परिवर्तन कर ले तो कोई समस्या नहीं। हिंदू–धर्म ने उसका कोई उपकार नहीं किया और मुस्लिम धर्म ने कभी क्षति नहीं पहुँचाई, फिर भी धर्म परिवर्तन की इच्छा उसके मन में नहीं जगी। यह उसका जड़ संस्कार था या अभिमान, वह तय नहीं कर पाया।

आगे गली मुड़ी, उसकी विचारधारा ने भी करवट ली। इस देश में भी अनेक हिंदू पुरुष हुए हैं, जिन्होंने मुस्लिम लड़कियों से शादी की है। उसे अभिनेता सुनील दत्त, रितिक रोशन, सुनील शेट्टी, अरुण गोविल, मनोज वाजपेयी का ख्याल आया; गायक किशोर कुमार, पंकज उधास; नेता सचिन पायलट; लेखक कृष्ण चंदर; क्रिकेटर मनोज प्रभाकर, अजीत अगरकर का भी ख्याल आया। अभिनेत्री वहीदा रहमान, कोरियोग्राफर फरहा खान जैसी अनेक मुस्लिम नारियों ने हिंदू पुरुषों से विवाह कर सुखमय जीवन पाया है। इनके अलावा अनेक लोग ऐसे भी हैं, जो इनके समान प्रसिद्धि प्राप्त तो नहीं हैं, पर अधिकार प्राप्त हैं, समर्थ हैं, उन्होंने भी बिना धर्म–परिवर्तन किए मुस्लिम लड़की से विवाह किया है। ए–ग्रेड की नौकरी पाने के बाद वह शबाना का हाथ माँगने का साहस कर सकता है, पर शबाना के मन में क्या है, यह स्पष्ट नहीं था।

चलते–चलते शबाना अचानक रुक गई। गली वहाँ कसाई मोहल्ले की मुख्य सड़क से मिल रही थी। शबाना ने कहा, "सर आप बुर्का उतार दीजिए। सामने ही सदर बाजार की मुख्य सड़क है। वहाँ पुलिस है। वहाँ कोई खतरा नहीं है।"

उसने बुर्का उतारकर दे दिया और कहा, "एक इल्तिजा है, अगर बुरा न मानें।"

"जानती हूँ" कहकर उसने अपने बुर्के से नकाब हटा दिया। उसका मुखड़ा देखते ही उसकी आँखें चौधिया गईं और अपनी आँखों के छोटी होने का पहली बार उसे अफसोस हुआ। वह पुरानी फिल्म अभिनेत्री मधुबाला की तरह खूबसूरत थी। उसे रफीक की किस्मत पर ईर्ष्या भी हुई, दया भी आई। कमबख्त इस दौलत को छोड़कर किस दौलत के फेर में पड़ गया। पर यह क्या उसकी सपनीली आँखों में आँसू। पर उन आँसुओं को देखकर उसे खुशी ही हुई। उन आसुओं ने ही उसकी दुविधा दूर कर दी थी। तभी पास के मकान से एक फिल्मी गाने की आवाज आई–

न तुम हमसे कुछ कह पाए
न हम तुमसे कुछ कह पाए
डर ये लगता है दिल की बातें
दिल ही में न रह जाएँ....।

परंतु उसके आँसुओं ने दिल की सारी बात कह दी थी। उसकी इच्छा हुई शबाना का हाथ पकड़कर भागता रहे, भागता रहे, भागता रहे। पर सच्चाई यह थी कि शबाना अपनी सरहद जानती थी और उसे उसकी सरहद में घुसने का साहस न था।

शबाना ने डबडबायी आँखों से कहा, "सर इससे पहले कि कोई आपको देख ले, आप तुरंत निकल जाइए।"

उसने कहा, "जा रहा हूँ, लेकिन लौटकर आऊँगा। इंतजार कीजिएगा न?"

वह मुस्कुराई। उसे जन्नत का दरवाजा दिख गया था।

– एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर–721305 (प, बंगाल)

❑❑❑

कत्लगाह

दिलीप कुमार

"ये विवाद का तीसरा दिन था। मग्घे की लाश पड़ी थी। मृत्यु यकीनन आज ही हुई थी, मगर कल से ही उसे लोग मुर्दा घोषित कर चुके थे। घर में कलह और पंवारा चरम पर था। मीरावती को कुछ औरतें खींच–खींचकर घर से बाहर कर दिया करती थीं, मगर थोड़ी देर बाद वो रोते–सुबकते घर में दाखिल हो जाती और फिर पति की लाश से चिपककर दहाड़े मार कर रोती थी। वैसे भी वो घर कहाँ था, बस एक छप्पर जो दोनों तरफ से खुला था। महज एक टूटे–फूटे फूस की आड़ थी, जिसके छेद में टीन के कुछ बक्से दिखाई पड़ रहे थे। एक बक्सा खुला था जिसका सामान जमीन पर छितरा पड़ा था। तब तक मीरावती का देवर रामसमुझ दनदनाता हुआ अंदर आया और उसने मीरावती को पीछे से खड़ी लात जड़ दी। मीरावती दर्द से बिलबिला उठी। उसकी गोद की लड़की दूर जा गिरी और चीखें मारकर रोने लगी। रामसमुझ ने मीरावती के बालों को खींचते हुए कहा–

"उठ रांड, मेरे भाई को तो खा गई, अब क्या पूरे घर को खाएगी? निकल यहाँ से, अब तेरा यहाँ क्या रखा है?

मीरावती कुछ न बोली, बस बढ़कर बच्ची को उठाया और उसे चुप कराया। ऐसी मार–पीट, खींच–तान बड़ी देर तक होती रही। एक तरफ मीरावती के जेठ और देवर का तर्क था कि दिवंगत मग्घे की मृत्यु मीरावती की लापरवाही एवं असावधानी से हुई है इसलिए उसे वहाँ से चले जाना चाहिए दूसरी तरफ रोती–फफकती मीरावती थी जो पति–वियोग से आक्रांत थी, उसके चार अबोध बच्चे थे, वो तर्क विहीन थी उसके साथ सिर्फ उसके आँसू, सिसकी और दुहाइयाँ थी। अगल–बगल के लोग परेशान थे कि कहीं थाना–पुलिस न हो जाए। इस खुसर पुसर से आजिज होकर गाँव के चौकीदार ने प्रधान को बताया कि अगर फौरन दाह–संस्कार नहीं कराया गया तो मजबूरन उसे थाने को खबर करनी पड़ेगी और एक बार अगर थाने को खबर दे दी गई तो कई लोग कानून के लपेटे में आ सकते हैं।

ये बात प्रधान की समझ में तुरत आ गई कि अगर कहीं बात बढ़ गई तो उसने पिछले दो साल से मनरेगा की जो फर्जी मजदूरी जो मृतक के नाम पर हड़पी है, उसकी भी पोल खुल सकती है। खामखाँ की सांसत से बचने के लिए प्रधान ने अपने पंच बुलाए, मृतक के घर पहुँचकर सभी को डपटा। प्रधान ने पहले तो घुड़कियाँ दीं फिर न्याय की बात की। क्योंकि पिछले दो तीन सालों की मग्घे की मजदूरी दस हजार से भी ज्यादा निकल रही थी। बैठे–बिठाए मजदूरी का कमीशन तय था, साठ फीसदी बैंक वालों का, दस फीसदी सरकारी बाबुओं का और दस फीसदी उसका जिसके नाम का जॉब कार्ड हो, यानी मजदूरी उठाने वाले मग्घे का।

मग्घे ने पिछले कुछ बरसों से सैकड़ों बार प्रधान के कहने पर बैंक से पैसा उठाया था। हर बार वो घर आकर घर की मिट्टी की दीवार पर

एक खड़ी लाइन जोड़ देता था जो पैसा बतौर हिसाब उसे प्रधान से पाना था। हालाँकि प्रधान ने अभी तक तो एक रुपया भी नहीं दिया था मगर मिट्टी की दीवारों पर लाल रंग की सैकड़ों खड़ी लाइनें मग्घे और मीरावती को खासी तसल्ली देती थीं कि प्रधान के पास ये रकम जमा है और वो इसे देगा जरूर। मग्घे तड़प–तड़प कर टी.बी. की बीमारी से मर गया। मगर प्रधान अब–तब करता रहा। मग्घे के बच्चे प्रधान के आगे–पीछे मंडराते रहे, मीरावती भी बार–बार उस दर पर गई, मगर पैसे न मिले। आम तौर पर डाँट–फटकार से बात करनेवाले प्रधान, मीरावती से विनम्रता से पेश आता और उसे आश्वासन देता रहा। मग्घे ने मरते–मरते अपने बड़े भाई दांते और छोटे भाई रामसमुझ से वचन ले लिया था, कि वे मीरावती और उसके चार अबोध बच्चों को भूखा नहीं मरने देंगे।

मग्घे का बाप त्रिलोकी भी मृत्यु की कगार पर था। उसकी माँ पहले ही काल कवलित हो चुकी थी। मग्घे ने अपने भाइयों को भी प्रधान के कर्जे के बाबत बताया था। मगर मग्घे के मरते ही नजारा बदल गया। जो भाई–बंधु मीरावती और उसके बच्चों को भूखों न मरने देने को वचनबद्ध थे, वही अब मीरावती को घर से निकाल देने पर आमादा थे। क्योंकि मग्घे के पास तीन बीघे की खेती थी। गाँव का प्रधान तटस्थ था। उसे दीवार पर लिखी लाइनों के कर्जे का तकादा आजिज किए हुए था।

मीरावती ने फिर प्रधान की शरण ली, इस बार मामला कर्जे की उगाही का न था बल्कि शरण का था। वो अपनी जड़ों से उखाड़ी जा रही थी। असहाय स्त्री कहाँ जाती इस बेरहम संसार में। माँ–बाप पहले ही गुजर चुके थे। सगे चचेरे भाइयों ने किसी तरह चंदा जोड़कर उसका विवाह किया था। महाराजगंज तराई का उसका पैतृक गाँव बाढ़ में बह गया था और भाई पंजाब में कहीं मेहनत मजूरी करके गुजर–बसर कर रहा था। विगत चार–छह वर्षों में भाई–बहन का किसी तरह का संपर्क नहीं हुआ था। अब वो हिंदू विधवा थी जिसे अवध क्षेत्र में संसार का सबसे तुच्छ प्राणी माना गया था। इसके अलावा वो चार अबोध बच्चों को लेकर जाए तो कहाँ जाए?

मीरावती ने जीते जी पति का घर छोड़ने से इनकार कर दिया। रामसमुझ और दांते के दबाव में त्रिलोकी, मीरावती के पति के हिस्से की जमीन उन्हें बैनामा करने को तैयार हो गए। त्रिलोकी डर गए कि बुढ़ापे में कौन मार खाए। तभी घर में पड़ी लाश का साथ देने एक और लाश आ गई। जवान बेटे की मृत्यु का दुख और उससे अधिक अपनी ही बहू और नाती–पोते को बेघर बेदखल कर भूखों मार देने के अपराध बोध से बेहाल पिता त्रिलोकी के प्राण पखेरू उड़ गए। ऊपरवाले की बेआवाज लाठी ने दखल दी तो सारे दाँव उल्टे पड़ने लगे।

मीरावती के श्वसुर के गुजर जाने से उसके जेठ और देवर के दाँव उल्टे पड़ गए। अवध क्षेत्र में शहर की सीमा समाप्त होते–होते कानून की हनक भी कम हो जाती है। गाँवों में आज भी लाठी का बल चलता है। दोनों की लाश का क्रियाकर्म करने के बाद दांते और रामसमुझ फिर मीरावती को घर से निकालने पर आमादा हो गए। मगर मीरावती अडिग थी कि–

"प्राण त्याग दूँगी, मगर इस चौखट को छोड़कर नहीं जाऊँगी।"

रामसमुझ ने एक और प्रस्ताव दिया कि मीरावती उससे विवाह कर ले, जिससे उसे आसरा भी मिल जाएगा और मग्घे की जायदाद भी उसे मिल जाएगी। पहले से ब्याहता रामसमुझ से मीरावती ने इस शोक की घड़ी में विवाह करने से इनकार कर दिया, आसरे के लिए ब्याह जरूरी तो न था लेकिन जायदाद को डबल करने का ये एक सुनहरा मौका था। मीरावती ने पति की लाश पर विवाह करने से ज्यों ही इनकार किया तो फिर लात दर लात मार जब असह्य हो गई तो मीरावती की प्रधान के घर हाजिरी हुई–

"खड़ी लकीरों का हिसाब कर दो।"

प्रधान की जान फिर सांसत में। उसने पंच बुलाए। न्याय की बात हुई। दांते और रामसमुझ को डपटा गया। नैतिकता और ईश्वर की दुहाई दी गई, कानून की घुड़की दी गई और अंत में पते की एक बात प्रधान ने उन दोनों को अकेले में

बताई मीरावती को ध्यान से देख, न रूप, न रंग। तीस की उमर में पचास की दिखती है। खेत तो मिल ही जाएँगे मगर उन खेतों से क्या मिट्टी फांककर अपने और अपने चार बच्चों को जिंदा रखेगी। उसे न अन्न दो, न रुपया उधार दो। उसे भी टी.बी. होगी ही, मग्घे को भी थी। उसे मारने के बजाय उसे खुद मरने दो।

फिर सब कुछ तुम्हारा। प्रधान की बात सुनकर उन दोनों की बांछें खिल गईं। प्रधान ने क्या जबरदस्त राजनीति की थी, सब खुश थे। मीरावती को ठिकाना मिल चुका था उसके लिए प्रधान ही अब महापुरुष थे वो उनके पैरों पर लोट गई, बिलखते हुए बोली–

"मैं दो जन्म भी लूँ तो भी आपके एहसान का बदला नहीं चुका सकती। अगर अपनी खाल उतारकर उसके जूता बनवाकर आपको पहनाऊँ तो भी आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकती।"

दांते और रामसमुझ भी निहाल थे कि बिना झगड़े–फसाद के काम हो जाएगा। प्रधान ने जेल, थाना–कचहरी से बचा लिया। रामसमुझ तो इस एहसान से इतना दब गया है कि उसी रात उसने कई पुडिया लाल रंग घोलकर मीरावती की मिट्टी की दीवार लाल रंग से लीप दिया। यानी बही खाते वाली दीवार पर अब लाइनें न थीं, महज लाल रंग के धब्बे जो कुछ नहीं बताते थे। अब वो दीवार जितनी कोरी थी उतना ही भयावह था मीरावती का भविष्य। हिसाब–किताब साफ हुआ तो अभी–अभी हासिल हुई परती जमीन भी उसे अपने पैरों से खिसकती हुई मालूम हुई। उसे फिर प्रधान से हिसाब–किताब करने का साहस न हुआ। अड़ोस–पड़ोस से एक आध दिन का चावल, आटा मिला मगर उसके बाद सबने असमर्थता जता दी। सबके अपने–अपने दुख थे। 'नानक दुखिया सब संसार'।

गाँवों में भूख बहुत ही बड़ी चीज होती है, मीरावती का दिमाग अभी दुरुस्त था। अंतरात्मा मरी नहीं थी। भले ही उसे लोग फटेहाल और तुच्छ समझते थे मगर वो खुद के निर्णय पर अडिग थी कि मुझे जीना है और अपने बच्चों का पालन–पोषण करना है। उसने तय कर लिया था कि वो भूख से भले ही मर जाए दुख और जिल्लत से हारकर प्राण नहीं त्यागेगी। भले ही वो औरत थी और बेसहारा थी। कोई बेसहारा हो और फिर औरत हो तो फिर किसी न किसी की नजर तो पड़नी ही थी। पाँच उपवासों के बाद भी मीरावती का बड़ा बेटा रमेश अपनी बछिया चरा रहा था जब वो आदिनाथ के सामने चक्कर खाकर बेहोश हुआ था।

आदिनाथ जानता तो सब कुछ पहले से था मगर बच्चे का यह हश्र देखकर वह द्रवित हो उठा। आदिनाथ के भी पाँच बच्चे थे, वह बहुधंधी आदमी था। स्कूल का खाना, नल लगाना, फल बेचना और बैंक की दलाली। इसके अलावा भी वो कमाने के हर जुगाड़ में हमेशा आगे रहता था। बस औरत के मामले में लंगोट का थोड़ा कच्चा था। वो हमेशा महत्वपूर्ण बनने की फिराक में लगा रहता था। फिलवक्त गाँव के तीन स्कूलों का खाना एक प्राइवेट संस्था बनवाती थी। शहर की संस्था ने गाँव में आदिनाथ को ही उस संयुक्त रसोई की कमान सौंप रखी थी। वैसे तो आदिनाथ खुद भी रसोइया के पद पर कार्यरत था, मगर वास्तव में उसकी हैसियत रसोइया के सुपरवाइजर जैसी थी। आदिनाथ ही सारा हिसाब–किताब रखता था, सारा बंदोबस्त भी करता था। शहर के ठेकेदार से पैसा लाकर, कोटेदार से गल्ला लाकर हिसाब–किताब से बनवाना उसी का ही दायित्व था। उसने अपनी बीवी रामरती को भी रसोइया के पद पर भर्ती कर रखा था। रसोइया का बाकी काम दूसरी दो औरतें करती थीं। आदिनाथ और उसकी बीवी मुफ्त की रोटियाँ तोड़ रहे थे।

आदिनाथ ने मीरावती के लड़के रमेश को नल गाड़ने में सबसे पहले अपना शार्गिद बनाया और फिर उसकी माँ को स्कूल की रसोई में काम पर लगा दिया। इस भर्ती में उसका दोहरा फायदा था। वो जितने रसोइए भरती करता शहर से उसकी आधी तनख्वाह लाकर खुद रख लेता था। पाँच उपवासों के बाद जब स्कूल का खाना मीरावती और उसके बच्चों को नसीब हुआ तो आदिनाथ उनके लिए किसी फरिश्ते से कम न था। धीरे–धीरे जिंदगी आसान होने लगी। आदिनाथ ने अपनी

सिफारिश से मीरावती के दो बच्चों का दाखिला स्कूल में करा दिया, जहाँ उन्हें कापी–किताब, वजीफा सब मिलने लगा और खाना तो मुफ्त में था ही। आदिनाथ नल गड़वाने के एवज में रमेश के हाथ पर दस–बीस रख भी दिया करता था। मदद का चक्र पूरा हुआ तो हर्जाने की प्रक्रिया शुरू हुई।

आदिनाथ ने जब तक मीरावती पर हाथ डालना शुरू किया। मीरावती पहले तो उससे बचने की कोशिश करती और यदि कभी फँस भी जाती तो हाथ–पाँव जोड़कर निकल आती। जब हद हो गई तो उसने फिर प्रधान की शरण ली। प्रधान को धर्म संकट से उबारते हुए मीरावती ने कहा कि–

"दीवार की लाइनें अब पुरानी बात हो चुकी है। अब आप मुझे जब–तब अपने यहाँ मजदूरी पर लगा लिया करें वो भी फर्जी नहीं असल मजदूरी पर।"

प्रधान इस बात पर रजामंद हो गया और अपने मुंशी रजवंत से कहा कि वे मीरावती का ध्यान रखा करे। प्रधान ने मीरावती को ताकीद की वो रजवंत से मिलती रहा करे। रजवंत करीब साठ के दुबली–पतली काया के मृदुभाषी, होशियार व्यक्ति थे। हालाँकि उनका भरा–पूरा परिवार था मगर न जाने क्यों वे पंचायत भवन में ही रहा करते थे। मीरावती लगभग रोज रजवंत के पास आती और उसे फर्जी नहीं बल्कि वास्तविक मजदूरी की प्रार्थना करती। रजवंत ने एक दिन उससे पूछा–

"तुम मेरे भतीजे आदिनाथ की रसाई में हो, फिर यहाँ क्यों मजदूरी करना चाहती हो?"

मीरावती कुछ देर चुप रही, फिर धीरे से बोली–

"पूरा नहीं पड़ता।"

रजवंत ने सहानुभूति के नाते उसकी मदद करना कबूल कर लिया। आदिनाथ अपनी हरकतों में कामयाब नहीं हो पा रहा था, मगर उसे कामयाबी की उम्मीद जरूर थी। हजार रुपए की तनख्वाह में पहले ही वो मीरावती को पाँच सौ देता था, अब उसने चार सौ ही देना शुरू कर दिया था। समय का चक्र बदला। मीरावती की गाय ने बछिया को जन्म दिया। रजवंत की मेहरबानी से उसका अन्त्योदय कार्ड भी बन गया था। चार सौ की पगार में ही दो रुपए किलोवाला पर्याप्त गेहूँ, चावल लाकर वो घर में रख लेती थी। स्कूल में खाना बहुत देर से खाती थी और इतना दबाकर खा लेती थी कि उसे शाम को भूख न लगे। रात–बिरात उसे भूख भी लगती तो वो पानी–पीकर रात काट देती थी। गाय का एक वक्त का दूध होटल पर जाने लगा तो घर में साग–सब्जी भी अक्सर आने लगी। स्कूल में बच्चों को दो–दो ड्रेस मिली तो बच्चे भी रंग–बिरंगे दिखने लगे।

दांते और रामसमुझ हैरान थे, यह सब देखकर पस्त होने लगे थे। मीरावती के इन प्रयासों को आदिनाथ ने अपनी हार समझा और खीझकर उसे निर्देश दे दिया कि अगले महीने वो काम से हटा दी जाएगी। मीरावती की जिजीविषा अब जाग चुकी थी, जून महीने से उसने खेती करने का भी यत्न शुरू कर दिया था। जून में स्कूल बंद हुए तो मीरावती थोड़ा चिंतित हुई मगर उसने खुद को आश्वस्त किया कि उसके बच्चे जीवित रहेंगे। उसे अपनी मेहनत पर भरोसा था दूसरे वो ये मानती थी कि ईश्वर उसे और उसके बच्चों को उन हालात से निकाल लाया तो वो उसके परिवार को जीवित ही रखना चाहता है। कैसे रखेगा, ये तो ईश्वर ही जाने। फिर आदिनाथ कोई ईश्वर नहीं है, उसके जैसा हाड़–माँस का मनुष्य है इसलिए वो उसके सामने नहीं झुकेगी। एक को इज्जत देने से अच्छा है कि फिर वो अपने इज्जत की नीलामी सभी के लिए न खोल दे। इसी उधेड़ बुन में महीनों बीत गए।

धान की बेरन भी उसने ले ली थी। जुलाई में स्कूल फिर खुल गए, मगर समय ने ऐसी पल्टी मारी कि राजा खुद प्रजा हो गए। सरकार ने 'मिड डे मील' का ठेका रद्द कर दिया और ग्राम प्रधान तथा स्कूल के हेड मास्टर को छूट दे दी कि वे खुद रसोइयों की भर्ती करें और 'मिड डे मील' का संचालन करें। हेडमास्टर सतीश मिश्रा बाहरी व्यक्ति थे सो उन्होंने रसोइया चुनने का दायित्व ग्राम प्रधान को सौंप दिया। बाकी के दो हेडमास्टर भी

यही चाहते थे। सो तब तय हो गया। रजवंत को इस काम का पूर्णकालिक मुंशी बना दिया गया और उनका भी वेतन तय किया गया। रजवंत और आदिनाथ में घोड़े–भैंसे का बैर था। बैर के केंद्र बिंदु में मीरावती ही थी। मीरावती अब एक सरकारी प्रतिष्ठान में काम करने लगी थी। संविदा ही सही, नौकरी तो थी। समय से आना, समय से जाना। कोई बेगार नहीं और सबसे खास बात कोई खास अनुशासन भी नहीं था उस पर। स्कूल से पर्ची बनवाकर रजवंत से गल्ला–तरकारी लाकर खाना बनवाओ, खिलाओ और खुद खाओ और फिर बचा–खुचा घर भी ले जाओ। महीने के महीने चेक से वेतन भुगतान होने लगा। उसके साथ लाइन लगाकर उसे चेक से भुगतान प्राप्त करते देख आदिनाथ के सीने पर साँप लोट जाता।

आदिनाथ बहुत छटपटाया मगर अब वो और उसकी पत्नी अलग–अलग स्कूलों में मुलाजिम थे। उसे खाना बनाना, बर्तन माँजना खासा तकलीफदेह लग रहा था। जिन रसोइया महिलाओं को नौकरी से निकाल देने की वो धमकियाँ दिया करता था, वही महिलाएँ अब उससे डरती नहीं थी और आदिनाथ को खुद नौकरी बचाए रखने के लाले पड़े थे। मीरावती की जिंदगी की गाड़ी हिचकोले तो खूब खा रही थी मगर बढ़ती भी जा रही थी। आदिनाथ की चुगलियों से हेड मास्टर सतीश मिश्रा अवश्य उससे कुछ नाखुश रहा करते थे। मीरावती एक दिन रोती बिलखती आई और सतीश मिश्रा के पैरों पर गिर पड़ी। वे चिहुंक उठे कि अब क्या हो गया उसके साथ उसका बच्चा रमेश भी था। रमेश की भवें तनी थी और मुट्ठियाँ भिची थीं। वो कक्षा चार में पढ़ता था। मीरावती ने रोते हुए बताया कि ये पिछले तीन दिन से न तो घर पर खाना खा रहा है और न ही मुझसे बात कर रहा है।

गुरुजी ने विद्यार्थी से पुचकार कर पूछा– 'बेटा, रमेश क्या बात है?'

रमेश कुछ न बोला। उसने फुफकारते हुए अपनी माँ को देखा। मीरावती फफकते हुए बोली–

"साहब, आदिनाथ ने इसके कान भर दिए हैं कि मैं गलत हूँ और रजवंत मुझे रक्खे हुए हैं। दो दिन से न तो इसने अन्न का एक दाना खाया है और न ही मुझसे बात की है। दुनिया का दुख सह लिया। मगर अपनी औलाद का दुख सहकर मैं जी न सकूँगी साहब। मैंने भी अन्न–जल त्याग दिया है साहब। ये नहीं मानेगा तो मैं भी अपने प्राण दे दूँगी साहब" ये कहते हुए मीरावती फफक–फफककर रोने लगी। तब तक रजवंत भी आ गए। वे बड़े तैश में थे आते ही रमेश को उन्होंने दो तमाचे जड़े और कहा– "आप देखना साहब, आज मैं उस आदिनाथ का कत्ल कर दूँगा। जिन हाथों से खिलाया है उन्हीं हाथों से गला दबा दूँगा उसका।"

सतीश मिश्रा ने सभी को शांत किया। रमेश को अलग ले जाकर समझाया। विद्यार्थी ने गुरु जी की बात मान ली वो वहाँ से सिर हिलाता हुआ चला गया। सतीश मिश्रा सरकारी आदमी थे किसी तरह का विवाद नहीं चाहते थे। मगर अब विवाद अवश्यंभावी लग रहा था क्योंकि केंद्र में स्त्री जो थी। सतीश मिश्रा मीरावती को हटा देना चाहते थे। उन्हें एक पुरुष कर्मचारी की आवश्यकता थी जो उनके लिए चपरासी का भी काम कर सके। उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के लिए मीटिंग बुलाई है। एक बंद कमरे में प्रधान, प्रधान प्रतिनिधि, रजवंत, आदिनाथ के साथ सतीश मिश्रा मीटिंग कर रहे है। मीरावती एक पेड़ के नीचे निर्विकार बैठी है। उसे मीटिंग के निर्णय का इंतजार है और भाग्य के नए खेल को लेकर उसका अंतर्मन पुनः बहुत विचलित हो रहा है।

– मालती कुंज कॉलोनी, आनंद बाग, बलरामपुर, उत्तर प्रदेश–271201

❑❑❑

अकेली लड़की कमजोर नहीं होती

निवेदिता झा

बिना किसी भविष्यवाणी या राशि के
जन्म लेती हैं कहते हुए कि
सूर्य न भाग्य लिखता है
और रात न इंतजार है

चाँद को सब ताकते हैं
ये गलतफ़हमी मानती
मन की बातें और थोपने की आदत
ये सब कुछ नहीं होता है उनके साथ
जो कुछ अलग करने को ठानती हैं
जो निर्णय उसने लिया वो
सर्वाधिकार और सत्य
यानी उनका व्यक्तिगत निर्णय

वो देखती है आकाश के विस्तृत आकार
और कयास लगाती कि नाप सकती है वो भी
वो नीलापन दुपट्टे में कभी कभार उड़ेलती
और सजाती उसमें इंद्रधनुषी बँधेज़
माँ के चेहरे पर प्रश्नों की धारियों से
परेशान उनकी भी पेरशानी कभी कभार
मगर उन्हें समझाना वो जानती हैं
समझाती है बार–बार कि
कोई मेरे चलने पढ़ने टहलने

जीने पर भला करे क्यों सवाल
मन की स्थिति और संतोष के दो बोल से
मिलाती
मगर मन में एक बवंडर से रूबरू होती
खुद का प्रश्न और हजार उसके जवाब

क्या किसी ने पूछा कि वो पढ़ती भी है
क्या कोई मिला जब पहली बार वो रोई
पिता के नौकरी ना रहने पर बढ़ाए चार आने
मुट्ठी में भला
या कि जब वो आगे बढ़ी किसी ने ठोकी
उसकी पीठ
लोगों के कहने पर वो जान पाई कि
वो लड़की है
और आँखों की सीध में है

उसकी मजबूरी नहीं
अब कि वो बंधन में रहे

सुबह और शाम की चाकरी बजाए
तरसे किसी के दो बोल को
प्रेम के ढोंग में पड़ना बहुतों को पसंद नहीं
नदियाँ ब्याह नहीं करतीं
बहती हैं निर्भय होकर चाहे कितनी दूर हों
हाँ ख्याल रखने की बात पर वो भी उदास होती है कभी

सहसा ही झटक देती है आँखो के सामने आए जुल्फों को

सब पछताते हैं
और अविवाहित शायद थोड़ा कम
जिंदगी है अपनी है
बस और जीने दो

– एफ/25/51, ग्रीन व्यू अपार्टमेंट, सेक्टर 3, रोहिणी, दिल्ली–110085

❑❑❑

परछाईं

संतोष श्रीवास्तव 'सम'

तुमने कभी,
अपनी परछाईं को,
बनते देखा है,
कभी जाना है,
परछाईं की महत्ता,
शायद नहीं।
तुम जो देखते हो,
सूरज के निकलने पर,
बनी परछाईं,
दीपक के सामने,
उभरी परछाईं,
उसे तुम नहीं बनाते,
न मिटाते हो,
उसमें सूरज और दीपक,
का हाथ होता है,
और जो परछाईं,
दूसरे बनाते हैं,
वह क्षणिक होती है।
तुम्हारे द्वारा बनी परछाईं,
तुम्हारे कर्मों पर आधारित है।
कब बननी शुरू हुई,
नहीं जानते तुम।
इसका मूल्यांकन समाज करता है,
देश और दुनिया करती है,
तुम्हारे कर्मों की परछाईं,
उस युग तक बनी होती है
जरा गौर करना,
परछाईं के बनने पर,
नजरें अपनी तीक्ष्ण रखना।।

– बरदे भाटा, कांकेर, जिला कांकेर–छत्तीसगढ़–494334

❑❑❑

अंजीर

प्रो. फूलचंद मानव
अनुवाद : प्रो. योगेश्वर कौर

मौन डूबे आतंकित वातावरण में सुगंध फैलती है या फिर अफवाहें, जो कभी–कभी खबरें भी बन जाती हैं। खबरें, जिनसे यादों की खाइयाँ भर जाती हैं और मन किसी एक बिंदु पर केंद्रित होकर स्वावलंबी और अकेला रह जाता है। अजनबी आवाजों में एक उदासी तैर–तैर जाती है और फिर बदचलन हवा में ठंडी धूप के शहतीर, इकाई–दर–इकाई सिमटते रहते हैं, जिनमें भावनाओं के पुल टूटते–बिखरते जान पड़ते हैं। उधारी उँगलियों का दर्द चटखने लगता है। उधारी उम्र के अंजीर छिलते शरीर पर पकने शुरू हो जाते हैं। कभी अंदर की तरफ तो कभी बाहर की तरफ।

और उम्र की बर्फ़ बराबर पिघलती रहती है।

वह भी कोई एक ऐसी ही अफ़वाह या सुगंध थी, जिसे मैं पकड़ नहीं पाया था और शंकालु वातावरण में उदासी के कॉकरोच मेरी देह की दीवारों पर रेंगने लगे थे। लगा था, जैसे देह का वह दर्द अभी गीला ही था, जिसके कीचड़ में पाप–पुण्य के समानुपाती पौधे पनप सकते हैं। समय का बीज जैसे सभी शाखाओं में घर कर रहा था और कोमल कोंपलों का आकर्षण कुछ तीखी अनुभूतियों को जन्म दे रहा था। किंतु अब सोचता हूँ तो लगता है कि काया कल्पवृक्ष पर लटकते थे वे अंजीर अभी कच्चे ही थे कि पुरवा के पागल थपेड़ों ने उन्हें झकझोर दिया था और बादामी धूप के कुंठित प्रभाव ने काला कर दिया था। पड़ोसिन संध्या की श्यामवर्णी उदासी का वह यूनिवर्सल जूड़ा मुझे समग्रतः बाँधने लगा, जिसका सारा ग्लोब मैं सहमी आँखों में समेट गया था। उसी संध्या के इतने कच्चे–पक्के अंजीर मुझे आज देखने को मिले हैं।

ठीक दस साल बाद जबरन अपने छोटे–शहर के भीड़–भरे बड़े बस स्टैंड पर उतरा हूँ, तो परिचित मिट्टी की महक मुझे दुलारने लगती है। जैसे महानगर की बोझिल जिंदगी नाइट–गाउन की तरह उतारकर हैंगर पर लटका दी हो और एक अपनत्व–भरी ईजी ड्रैस बरबस पहन ली हो। ड्रैस, जिसके रहते कहीं किसी तरह भी बैठा जा सकता है, खड़ा हुआ जा सकता है, भागा जा सकता है, जिसे पहनकर सुख, चैन और आराम की उबासियाँ आने लगती हैं। लग रहा है किसी 'अटेंशन' फौजी अफ़सर की तरह खड़ा–खड़ा वह जैसे चाहे, रिलैक्स हो सकता है, किंतु वहाँ से हिल नहीं सकता, इधर–उधर भाग नहीं सकता।

'जैसे थे' का आह्वान होते ही फिर से यादों के चमगादड़ इर्द–गिर्द रिक्शा–चालकों के रूप में सामने आ टपकते हैं और 'क्विक–मार्च' का हुक्म होते ही, न मालूम कब और कैसे मैं फुर्ती से एक पुराने–से रिक्शा में अटैची टिका देता हूँ। कटे वृक्ष–सा क्यों रिक्शा में जा बैठा हूँ, नहीं जानता, कि स्वतः ही रिक्शावाला मुझे खींचने लगता है।

'कहाँ जाना है' के नाम पर मैंने अभी कुछ बतलाया नहीं कि रिक्शा ठीक दिशा में बागवाली सड़क पर दौड़ने लगता है। रिक्शावाले का चेहरा मैं याद करने का प्रयत्न करके भी स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन वह मुझे कैसे और कहाँ ले जा रहा है, यही सोचकर हैरान हूँ।

समय और स्थिति के प्रभाव में कोई क्या हो सकता है, यह अब स्पष्ट होने लगा है। समय की साजिश ने सत्यानंद को जैसे सारथी बना दिया है। सोचता हूँ स्वार्थों के लिए छोटा पड़ जाता है आदमी और पेट उसे सड़क पर सीधे चलना सिखा देता है। स्कूल में मिडिल श्रेणी तक कभी मेरे साथ पड़े सत्यानंद को मैं पहचान गया हूँ और वह मुझे नहीं पहचान रहा, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। कभी इसे 'बेकरी' पर काम करते हुए मैंने देखा था, ऐसा याद आने लगा है। मन होते हुए भी उससे कुछ पूछने का मेरा साहस नहीं हो रहा है और बड़े मंदिर के पास से होकर रिक्शा कोर्ट रोड पार कर रहा है कि मैं परिचित–अपरिचित के इस मटमैले भ्रम में डुबकियाँ लगा रहा हूँ।

यहाँ पहुँचते ही मुझे इधर की याद ताजा हो आती है, यहाँ का घर, अर्थात् छोटा शहर– मेरे अपने अस्तित्व का रक्षक, दिवास्वप्न आईने में दादा की पेटिंग के बाहर वाली सड़क देखता हूँ– लैंडस्केप, जिसने मुझे शहर के बाहर वाली सड़क पर छोड़ दिया है। बाहरवाली सड़क यानी कि सैनिक स्कूल। हाँ, यही पब्लिक सैनिक स्कूल, जहाँ इससे पहले कोर्ट था। कचहरी के रिकार्ड–रूम में ताऊजी के साथ कितनी ही बार तो आया करता था मैं। कभी वैसे ही घूमने के लिए, और कभी आमों के बहाने। साथ ही पक्का बाग है, जहाँ से आम सारे पंजाब में जाता है– पक्का टपका आम, सिंदूरी मालदा आम, लँगड़ा–बनारसी आम, सफेदा–सौंफिया आम। और तब, आम की अपेक्षा कच्ची अंबियों का चाव मुझे ज्यादा था। कच्ची और खट्टी अंबिया कुछ खाता था और कुछ जमा करके, चटनी के लिए घर ले आता था, जिसके लिए कई बार मुझे मार भी खानी पड़ी है, पिटना भी पड़ा है– गर्मी हो जाने की शिकायत से, आँखें दुखने के भय से, बीमार पड़ने के आतंक से और अब उन दिनों को स्मरण करता हूँ तो मात्र सहेजकर रह जाता हूँ। जैसे फ्रिज में लगे दिन हों–सदाबहार दिन, अधपके अंजीरों वाले दिन।

तब से अब तक की उम्र को परिवर्तन से तोलता हूँ, तो काफी–कुछ नया बढ़ गया जान पड़ता है। वही शहर, वही इमारतें, वही घर, वही गलियाँ, अब अधिक प्यारी लगने लगी हैं। सभी कुछ जैसे एक मोह में बँध जाता है।

तब यहाँ कचहरी थी, कोर्ट था। अब 'हॉर्लिक्स' दूध की फैक्टरी है, सैनिक स्कूल है। फैक्टरी में हजारों लोग काम पर लगे हैं। ठीक से मुझे याद है, तब कोतवाली लाँघ कर जामुनोंवाली जुलाई की सड़क निर्जन और नितांत सूनसान रहती थी। अकेली सड़क और जामुन के पेड़। लगता था, जैसे बेचारी प्रेमिका कई लफंगों के हाथ पड़ गई और फिर जब बरसात होती थी, तो सड़क कहीं खो–सी जाती थी। पानी के चहबच्चे धीरे–धीरे एक बिना किनारे की नदी में बदल जाते थे और बेचारी सड़क जैसे गहरे में कहीं छिप जाती थी। डूब जाती थी और लंबे लफंगे जामुन के पेड़ मानो बारिश थम जाने पर भी सड़क के खो जाने पर टप–टप आँसू गिराते रहते थे। और मुझे फिर ढलती शाम को कभी–कभी ऐसा अहसास होता था कि अनवरत आँसुओं ने जो यह बाढ़ ला दी है, जल्दी–जल्दी थमेगी नहीं।

अब एक चुंगी से दूसरी चुंगी तक बारौनक सड़क आबाद है। दिनभर खुशनुमा लड़कियों और रसिक लड़कों की चहलकदमी सड़क की ताजगी को बनाए रखती। कारों, स्कूटरों, साइकिलों की भीड़ कभी गैरहाजिर न होती। मॉडल स्कूल से लौटते बच्चों का ताँता बँधा हुआ है। कॉलिज जाते छात्रा–छात्राओं के समूह दिखाई देते हैं। पक्के बाग में लोकाट और शहतूत के पेड़ भरपूर फल दे रहे हैं, जिनकी गंध–भर से मन ताजा हो जाता है। शायद यही ताजापन सोनल संध्या की याद दिला जाता है।

और अब हाईस्कूल के गेट पर, जहाँ से मैंने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी, राजकीय हायर सेकेंडरी स्कूल का बड़ा बोर्ड कक्ष है, वहाँ से गुजरते गए सामनेवाले गुरुद्वारे का सबद–कीर्तन, लाउडस्पीकर द्वारा बरबस सुनाई पड़ता है। अचानक गुरुद्वारे के मुख्य द्वार पर नज़रें टिकती हैं, तो लगता है कि पुरानी इमारत के जैसे भाग्य ही बदल गए हैं। यह कायापलट कैसे हुआ? इस पुरानी बूढ़ी बिल्डिंग पर सफेदी नंगी धूप में अधिक चमक रही है और फाटक के

पास आगे सरकारी नल का पानी दूर, सड़क पार तक रास्ता भिगो रहा है।

रिक्शा में बैठा सोचता हूँ, उपले इकट्ठे करते रिफ्यूजी छोकरों का वह दल भी, अब शायद जवान होकर काम–काज करने लगा होगा, जो पहले अक्सर मुझे राह चलते गोबर उठाते, पाथियाँ बनाते मिला करता था। किंतु परंपरा ही टूट गई है, यह जानकर मुझे संतोष भी होता है। अगल–बगल के मकानों से, जो तेज रेडियो की आवाज कानों में कौंध जाती थी, अब धीमी हो गई है और कई परिचित हवेलियों पर अपरिचित नामपट्ट देखकर मुझे जैसे कुछ अलग अहसास होता है। इतना कुछ बदलने पर भी मैं खुलकर हँसता नहीं, मन–ही–मन मुस्कुराकर रह जाता हूँ। हाईस्कूल के गेट पर वही 'प्यारे' चाटवाला बैठता है, जिससे गोलगप्पे खाने के लिए कॉलेज की लड़कियाँ साइकिल टिकाकार उसकी रेहड़ी घेर लेती थीं और तब हम अनदेखा करके आगे निकल जाया करते थे। छोले–कुलचेवाला सरदार भी बदला नहीं है। उसी वेशभूषा में, वहीं गली के नुक्कड़ पर अपने फूलबहरीवाले हाथों से बच्चों को कुलचे–छोले खिला रहा है और वह पोस्टमैन पंडित मोहनदास, जो पहले चिट्ठियाँ बाँटा करता था, अब अनपेड डिलीवरी सँभाल रहा है, रजिस्ट्री और मनीआर्डर बाँटता है। पहले पैदल जाता था, अब एक बूढ़ी साइकिल लेकर, जिस पर नया काला रंग हुआ लगता है, डाक बाँटता है। मुझे पहचानकर नमस्कार करता है।

समय का सुनहला वृक्ष पुनः मेरे सामने हरा हो जाता है कि ऊबड़–खाबड़ सड़कों पर सत्यानंद और मैं फिर साथ सोनल संध्या के घर के आगे से निकल रहे हैं। मेरे अंदर नीचे, गहरे जैसे कहीं कुछ होने लगा है और सूखी जीभ मानो तालू से चिपकी जा रही है। कच्चे अंजीरों की एक जोड़ी गुबारों की तरह भरी फूली महसूस होने लगती है, जैसे दो अखरोट, अंजीर हो गए हों। हैरान होता हूँ कि सारे रास्ते में कहीं कुछ भी हलचल न करनेवाला सत्यानंद कैसे यहाँ से रिक्शा की घंटी टुनकाकर आगे बढ़ रहा है। यह हरकत इसने यहीं क्यों की है, एक नया अंदेशा मुझे जकड़ लेता है।

मास्टर रघुवरदास के आँगन में लगे पपीते के पेड़ मुझे रिक्शा में बैठे–बैठे ही दिखाई पड़ते हैं, तो अपने आँगन का अकेला अंजीर मुझे फिर याद आ जाता है। न जाने क्यों, पीछे आमों, शहतूतों, लोकाटों को देखकर मुझ पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी कि पपीते के पेड़ों ने मुझे मेरे बचपन के उन कच्चे अंजीरों पर जा छोड़ा है, जहाँ कभी हम इतने पास आ चुके थे कि सोच भी नहीं सकते थे, कभी अलग होने का वक्त भी आएगा।

तीखी हवा में से छन–छनकर सूरज की तिरछी सुइयाँ सारे शरीर में चुभने लगी हैं, तो अंजीरों में भी मुझे रस भरता महसूस होने लगा है। कच्चे कोठों के कोनों में किस तरह बचपन के घरौंदे मटियामेट हो जाते हैं, वही सब सोच रहा हूँ। सोनल संध्या जॉर्जेट की गहरी नीली साड़ी में लदी, लिपटी, सपाट पट्टे सी सामने खड़ी है कि मुझे यकीन नहीं हो रहा। संध्या, एक पूरी औरत।

सत्यानंद ठीक मेरे घर के सामने जब रिक्शा खड़ी करता है, तो मेरी साँसें ठोकरे खाती, गिरती–सँभलती, फिसलने लगती हैं और मुझे अपना सारा अस्तित्व उल्टा होकर ठिगना लगने लगता है, जब माथे से पसीने की बूँदें पोंछता सत्यानंद इस दौरान पहली बार मुझसे मुखातिब होता है, 'उतरो कप्तान! घर आ गया।

और जब विस्मयबोधक बना मैं सत्यानंद को साथ घर के अंदर चलकर बैठने के लिए कहता हूँ, तो वह बिना पैसे लिए ही दूर जाता हुआ कहता है, 'अब नहीं कप्तान, संध्या मेरे बगैर खाना नहीं खाएगी। मुझे अपने घर जाने दो–तो मुझे लगता है कि मेरे आँगन के दो अंजीरों में भी रस भर आया है।

– साहित्य संगम, 239, दशमेश एंक्लेव, ढकौली, जीरकपुर (चंडीगढ़ के पास) – 160104

❑❑❑

सहने की सीमा

अनुवाद : डॉ. गंगेश गुंजन

उस समय रात के साढ़े नौ बज रहे होंगे। शशिभूषण सीधे कार्यालय से ही आए थे। कमरे में मद्धिम रोशनी थी। पत्नी बेटी और राजेंद्र से बातें कर रही थी। उनके पहुँचने के साथ ही दोनों ने बीच वाक्य पर ही बतियाना बंद कर दिया, ऐसा शशिभूषण ने सोचा। दोनों के चेहरे सामान्य से अधिक गंभीर और कसे हुए थे। शशिभूषण ने मुँह घुमा लिया और एक तरफ़ जाकर कपड़े बदलने लगे। पत्नी पास आकर उनके हाथ से कपड़े लेने लगी। उन्हें यह आरामदेह लगा। वे काफी थके हुए थे। पैंट उतारे बिना ही पलंग पर गिर गए। पत्नी बहुत कम आवाज में इतनी देर तक कार्यालय से लौटने की रोजाना हो जाने वाली बात पर भुनभुना रही थी। उसे अपनी थकान और खीझ में पत्नी का भुनभुनाना बड़ा झूठ लगा। वह मन ही मन सोचने लगे– 'कल से और देर करूँगा लौटने में।' परंतु शायद उनपर खामख्वाह खीझ उठे थे, इस बात को उनके मन ने माना।

'कब आए?' उन्होंने सिर घुमाए ही कुछ औपचारिकता में राजेंद्र से पूछा। राजेंद्र ने, काफी देर पहले आने की बात कही और कहा कि लौटने में वे दिन–दिन देर कर देते हैं। राजेंद्र की यह आत्मीयता भी उन्हें अच्छी नहीं लगी। बदले में उन्होंने बड़ी तिक्तता से सोचा–तुम्हारे लिए तो यह बात बहुत अनुकूल है। बेकार बनते हो। परंतु उन्होंने हल्की सी हुंकार भी दी। कमरा शांत था। पत्नी चाय लाने नीचे चली गई। राजेंद्र अपने लिए मना करने लगे। अब तक दो बार पी चुके थे।

पलंग से हटकर सोफा पर राजेंद्र निहायत घरेलू निश्चिंतता से पैरों को मोड़–माड़ कर बैठे थे और दीवार पर कैलेंडरों को देख रहे थे। ठीक रेडियो के ऊपर उनकी प्रिय अभिनेत्री की तस्वीर है। उस ओर देखते पाकर आज शशिभूषण कुछ भी उन पर व्यंग्य नहीं कस रहे थे। शायद वे भी इसी निश्चंतता से देखे जा रहे थे। संभव कि दोनों एक–दूसरे के किसी प्रश्न के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। शशिभूषण ने आँखें बंद कर ली थीं। उड़ती नजर से एक बार देखकर राजेंद्र ने आत्मीयता व्यक्त करने के लिए जैसे अपने भीतर से ठेलकर उनके लिए कोई प्रश्न तैयार किया। उनके काफी थके होने की जिज्ञासा की। शशिभूषण नियमित झल्लाहट लेकर बोले– क्या करेंगे यार। बड़ी भूतिया जगह से लग गया हूँ। अब नहीं चलने का। हालाँकि स्वर उनका बहुत सहज बना रहता है। राजेंद्र उनकी इस बात का खोखलापन पिछले दो वर्षों से अनुभव कर रहे हैं। छोड़ना–छाड़ना पार नहीं लगेगा इससे। अलबत्ता रात बारह बजे लौटने की आदत बना डालें। अपने प्रति उत्पन्न हो आई सहानुभूति को शशिभूषण ने बड़ा भारी झूठ माना। बल्कि अवसरवादी व्यवहार। परंतु ऐसा मानने का उनके आगे कोई ठोस कारण नहीं था।

नीचे रसोई से कुछ–कुछ स्वर आ रहा था और राजेंद्र संदेह में भरे चुप बैठना चाह रहे थे। उन्हें लग रहा था शशिभूषण की इस थकान में आज कहीं से कुछ अवश्य मिला हुआ है। यह ऐसे निढाल नहीं पड़ सकता। गंभीर है। बुद्धिमान भी।

शशिभूषण के बुद्धिमान होने की सोच कर राजेंद्र अंदर ही अंदर एक पल को विचलित हुए। फिर स्वयं ही सोचने लगे–नहीं वह सब भ्रम है। पर इसके बाद अब उन्हें निश्चिंतता नहीं थी। वे बल्कि अब चलने की उकताहत अनुभव कर रहे थे। मगर काफी देर से बैठे रहना और उनके आते ही चल देने से शशिभूषण के मन में उठनेवाले आशंकित प्रश्न से वे बँध गए। क्या सोचेगा? यद्यपि राजेंद्र बहुत दिनों से जानते हैं यह उनकी उपस्थिति का, आगमन का कुछ भी अतिरिक्त नहीं लेता। इतने दिनों के इस क्रम में वे इस घर के पूरे सदस्य हो चुके हैं और ऐसा निश्चित ही शशिभूषण की भी इच्छा से है। विश्वविद्यालय में दोनों ही साथ पढ़े हैं। बहुत अभिन्न रहे हैं और दो भिन्न कार्यालयों और कामों में लगे होने पर भी संयोग से एक ही शहर में हैं। इसीलिए संबंध की प्रगाढ़ता बहुत स्वाभाविक है और फिर यह भी कि जिस दिन राजेंद्र नहीं पहुँचते हैं वही दिन सबके लिए पूछताछ का होता।

राजेंद्र ने निश्चिंतता का अनुभव किया। शशिभूषण उन्हें कितना मानता है और फिर मेरे लिए भी तो यही अकेला एक मित्र है। ये सोचकर कि वे दोनों बहुत अभिन्न हैं, बड़ा सुखद महसूस किया। शशिभूषण कम बोलनेवाला जीव है। फिर थका हुआ भी बहुत है। इसकी उदासीनता और चुप्पी का कोई विचार नहीं करना चाहिए। इसके प्रति अन्याय होगा। उन्होंने फिर से कैलेंडर देखना आरंभ कर दिया।

शशिभूषण आँखें खोले छत की ओर देख रहे थे। राजेंद्र खिड़की से बाहर देखने लगे।

"तुम्हें चाय मिली या नहीं?" शशिभूषण ने अचानक पूछा। हालाँकि यह सवाल दोनों ही व्यर्थ समझ रहे थे। फिर भी राजेंद्र ने सिर हिलाया, और अब एक भी प्याली नहीं पीने की अपनी इच्छा कही। वे फिर चुप हो गए। शशिभूषण कुछ संबंधी चर्चा करना चाहते थे। पर बोले कुछ नहीं।

"अरे आपलोग तो इस तरह चुप हैं जैसे अनबोला हो गया हो।" पत्नी प्याली लिए आई और आशंकित वातावरण के भारीपन को हल्का करने का प्रयास किया। इस पर शशिभूषण के चेहरे पर बड़ी तेजी से रेखाएँ खिंच गई। फिर स्थिर। उठकर उन्होंने प्याली थाम ली। राजेंद्र इनकार कर रहे थे– वे सुनने लगे। वे चाय लेने से इनकार कर रहे थे और ये दुहराते हुए अधिक सहज होने की कोशिश में शशिभूषण को और भोंडे लगने लगे। दुराग्रह की हद तक पत्नी राजेंद्र से चाय पीने की बात कहे जा रही थी। शशिभूषण अपनी इस प्रतिक्रिया पर भी सर्तक हो गए और सोचा "राजेंद्र के प्रति आज वह ऐसी कटुता पर क्यों उतर आए हैं?" लेकिन इस पर उन्होंने अधिक नहीं सोचा। कमरे में उनके घुसते ही अचानक रोक लिया गया इन लोगों का वह कोई कल्पित वाक्य शशिभूषण की आँखों में सवाल बनकर खड़ा हो गया। ऐसी क्या बात कर रहे थे आखिर ये? आने के साथ अचानक बंद हो गई दोनों की बातचीत, जरा सी उड़ी हुई आकृतियाँ मस्तिष्क में तेजी से नाच रही थीं और वे मानसिक स्तर पर किसी तरह जूझ रहे थे। यह स्थिति उन्हें बहुत असह्य थी। भीतर ही भीतर वे अजीब कसैलेपन में गहरे उतर गए थे कि तभी राजेंद्र एकाएक उठ गए। शशिभूषण ने देखा फिर उनकी दृष्टि चाय की प्याली पर ठहर गई। औपचारिक रूप से कहा "चलता हूँ।" धीरे–धीरे राजेंद्र दरवाजे की ओर बढ़ गए। वाक्य बहुत धीमा–सा सुनाई पड़ा।

पत्नी एकाएक अस्तव्यस्त–सी हो गई। शशिभूषण ने देखा फिर चाय पीने लगे। उन्हें पत्नी का चेहरा अकारण त्रस्त–सा लगा। अकारण उत्तेजित हो गए मानो कोई विश्वासघात किया गया हो, उन्हें घृणा हो आई। फैलती हुई घृणा प्रायः उनके तमाम समीप के संबंधियों तक पसर गई। और खुद को बहुत एकाकी महसूस करने लगे। वे कुछ भी बोलने से बच रहे थे। उन्हें अंदेशा था कि बोलने पर मामूली–सी बात भी कुछ बड़ी ही बेहूदी स्थिति न पैदा कर डाले। अशोभनीय हो जाए और फिर पड़ोस के लोग भी जान जाएँ। इसमें किसका कुछ जाएगा? सबकुछ उन्हीं का। उन्हें महसूस हुआ कि पसीने में नहा जाएँगे। राजेंद्र पर आज से पहले उन्हें इतनी घृणा कभी नहीं आई। यों यह बहुत सही है कि पिछले दो वर्षों से मन ही मन राजेंद्र से उन्होंने सिर्फ घृणा ही

की है। फिर भी बहुत शालीनता के साथ रहे हैं दोस्त की तरह। कटुता बाहर कभी नहीं झाँकी। बल्कि अपने इस संयम के आधार पर शशिभूषण इस बात में गहरा विश्वास करते रहे हैं कि उनकी आंतरिक वास्तविकता राजेंद्र नहीं जानते। वे बाहर से एकदम पहले की तरह ही सहज हैं। राजेंद्र उन्हें मानता है। लेकिन जैसे ही वह यह भावना जान जाएगा– अलग जा खड़ा हो जाएगा।

पत्नी को शशिभूषण ने देखा था। राजेंद्र के पीछे–पीछे दरवाजे तक गई उनका मन घृणा और प्रतिशोध से भर गया। इतनी स्पष्टता से यह सब घटित होना उनके लिए बहुत असहनीय था। परंतु वे कुछ कर नहीं पा रहे थे। क्योंकि उनके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। वे सोच रहे थे अपनी बात। इतना कुछ हो जाने के बावजूद क्या वे निबाहने के लिए घातक रूप से चुप रहे हैं। वे अब इतने उत्तेजित थे कि फिर से लेट जाना पड़ा उन्हें। वे पत्नी के लौटने की प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच तमाम मानसिक उद्‌विग्नता में वे उन दोनों की भुनभुनाती–सी बातचीत सुनना चाहते रहे। कोई आवाज पहुँच नहीं रही थी। इस लाचारी पर वे खीझते रहे। उनका क्रोध पत्नी के लौट आने तक उबलता रहेगा। तब वे बेझिझक सब कुछ कह पाने में समर्थ हो पाएँगे। आज कितने दिन हो गए। उनसे यह अदना–सी बात नहीं कही गई। वे सुलगते रहे। अपनी शांत प्रकृति और व्यक्तित्व– मर्यादा में बंद धुँआते रहे। घुटते रहे। परंतु इतना गहरा शायद पहली बार आज ही महसूस हुआ है। वे जानते हैं। खिड़की कौन कहे, पूरा दरवाजा जिसे खोल देने से मिनटों में सारा धुँआ बाहर निकल जाएगा। थोड़ी ही देर में सब कुछ साफ हो जाएगा, कम से कम उनके भीतर और निकले हुए धुँए का रंग, गंध पड़ोसी जानेंगे तो भी क्या?

पत्नी लौटी तो वह उसे अपनी पीठ की तरफ अनुभव कर सके। पत्नी की आकृति ज्यादा गंभीर थी। उन्होंने अपनी कल्पना से दुबारा इस गांभीर्य को 'व्यस्तता' मानकर पलमात्र के लिए नाटकीय संतोष का अनुभव किया। कहना, पूछना उनसे कुछ पार नहीं लगा। पत्नी शायद बीच कमरे में खड़ी उन्हें देख रही है। उन्होंने अनुमाना। फिर भयभीत दृष्टि से अपनी ओर देखते हुए पकड़ पाने का मजा उठाने के लिए एकबारगी उन्होंने करवट ली। पत्नी पूरबवाली खिड़की के बाहर लगातार देख रही थी। उन्हें निराशा हुई। दिन में उस तरफ से दो–तीन पुराने ढंग के मकान के पीछे से दो–तीन ठूंठ तार भी दीखते हैं। शशिभूषण ने देखा, वे बहुत शांत खड़ी उधर ही देख रही थी। उन्हें पति के द्‌वारा स्वयं को देखे जाते रहने का तनिक भी आभास नहीं था। शशिभूषण को खाँसी आ गई। पत्नी ने मुड़कर देखा। वे तकिया में मुँह छुपाए पड़े थे। वे साहस करके पास तक गई। झुककर ललाट छुआ। बहुत सच्चे स्वर में पूछा– "तबीयत तो खराब नहीं।" वे कुछ नहीं बोले। अनुभव करते रहे। ऐसे में और दिन पत्नी की हथेली सामान्य लगती थी। आज जलती हुई लग रही थी। परंतु ऐसी कि वे उसकी जलन महसूस करके भी हटा नहीं पा रहे थे। पत्नी ने हथेली हटा ली।

"खाना ले आँऊ?" शशिभूषण ने स्वयं की दूरी से अनुमान किया वह अब मुझपर झुकी हुई नहीं है। उन्होंने मना कर दिया। पत्नी ने "कब खाएँगे" पूछा। वे चुप रहे। पत्नी ने थके होने की बात करके कहा– "अच्छा हो खाकर सो रहें।" वे मानो कुछ भी नहीं सुन रहे थे। उन्होंने पत्नी की चुप्पी से एक खुशी महसूस की। यह हारकर चुप हो गई। उनका हार कर चुप हो जाना उन्हें बहुत अच्छा लगा।

पत्नी ने रोशनी बुझा दी और सोफे पर बैठ गई। शशिभूषण जल गए। उन्होंने प्रतिकूल और अभद्र बातें सोच लीं। उनके मन का विश्वासघात वाला अंश अधिक चौकन्ना हो उठा। वे चाहने लगे उठकर सारी बातें कर ही लें। जो जितना कुछ कहना है कह ही लें। माथा, देह, वातावरण सभी भारी लग रहे थे। वे इनका शीघ्रता से कोई अंत चाहते थे। यद्‌यपि अंत क्या और किस रूप में यह बात इनकी समझ में नहीं आ रही थी। कोई भी निर्णय वे ना ले सकते हैं? फिर जो लेंगे उसका

रूप मात्र उनके परिवार तक ही सीमित रहेगा या बहुत दूर बाहर तक? धीरे–धीरे वे फिर लाचार होने लगे।

दूसरे कमरे से आ रहे नाममात्र के प्रकाश से वे बैठी पत्नी की उभरती देह भर देख पा रहे थे। बार–बार याद करते कि आज तक वह उन्हें इतनी बड़ी, इतनी बुलंद झूठ क्यों नहीं लगी? पूरे संबंध से एकबार फिर विरक्ति होने लगी। वे कोई बहुत ही अव्यावहारिक और भावुक निर्णय लेने के लिए तैयार हो गए। अर्थात् अब पत्नी को देहात में भेज देंगे। वहीं पड़ी–पड़ी सड़ेगी।

रात अधिक हो गई थी। पत्नी एक बार फिर उठकर शशिभूषण के पास आई। खाने के लिए पूछा। वे चुप थे। पत्नी का उत्साह नहीं रहा दुबारा पूछने का। लौट कर आई। नीचे गई रसोई में। चूल्हा बुझ चुका था। ढँके हुए बर्तनों में खाना रखा था। एक थाली बगल में ही जूठी पड़ी थी। उन्होंने सोचा–समीरा ने खा लिया है। नौकर सीढ़ियों के पास बैठा उँघ रहा था। उन्होंने जगाया। खाना लगाकर कमरे में रख जाने को कहा और उसे खा लेने को। वे ऊपर चली गईं। शशिभूषण उनका ऊपर आना अनुभव करते रहे। उन्हें खेद हो रहा था कि नीचे क्यों नहीं जा रही है। हालाँकि अपनी ऐसी मानसिकता से वे बेतरह ऊब चुके थे। ऐसी या किसी तरह की थकान में उन्हें, अपेक्षा किए बिना ही पत्नी उपलब्ध रहती थीं। फिर वे और बेचारगी से भर गए। उन्हें भला लगा कि कमरे में प्रकाश नहीं है। पत्नी भी नहीं। वह शायद समीरा के कमरे में गई है। उसके कमरे से बातें करने की आवाज आ रही है। रोशनी अब तक जल रही है। शायद समीरा अभी तक पढ़ती रही है।

वह बहुत ईमानदार है। उन्हें स्नेह करती है। वे भी उसके लिए चिंतित रहते हैं। उन्होंने अपेक्षा की कि अपनी बहन होने के नाते वह उसे सहानुभूति दे। क्योंकि एकमात्र वह उनका दुख जानती है यद्यपि वो दुख वह किस आधार पर जानती या जान सकती है, यह बात वह नहीं जानते। लेकिन उन्होंने सोचा अधिक समय तो घर पर ही रहती है। अनुभव तो करती होगी, आखिर कोई बच्ची तो नहीं है। एम.एम. में पढ़ती है। इतनी समझदारी तो उसमें होनी चाहिए कि यह सब नाटक जान–समझ सके। उसकी आँखों के सामने इतना कुछ होता होगा और वह मेरी इतनी पराई हो गई, आज तक कुछ बतला तक नहीं पाई? और फिर आज। इतनी यंत्रणा भोग रहा हूँ तब से, वह एक बार पुस्तक बंद करके मेरे पास आकर पूछ नहीं सकती थी क्यों चुप हैं भैया? यह ध्यान आते ही समीरा भी अब उन्हें दूसरे संसार की लगने लगी। सब ओर से हताश होकर वे स्वयं में सिमटने लगे। सारा कुछ भूलकर नींद पड़ जाने की चेष्टा करने लगे। नींद नहीं आ रही थी। देर तक नहीं आई। उन्हें धीरे–धीरे लगा जैसे बुखार से उनका शरीर निढाल होता जा रहा है।

तभी समीरा के कमरे में रोशनी बुझने की पुट सी आवाज सुनी शशिभूषण ने और पत्नी के उपस्थित होने का अहसास हुआ। तब भी वे अनमने से पड़े रहे। उनकी पत्नी कुछ ओर तलाश रही हैं– उन्होंने अंदाजा लगाया। पर इस बार देखने की हिम्मत नहीं हुई। नौकर खाना रख गया। पत्नी पल भर जैसे सोचती खड़ी रही पूछें–न–पूछें। फिर दरवाजा बंदकर कुछ हटकर ही पलंग पर उनकी बगल में लेट गई। उन्होंने अपने कंधे के पास पीठ की ओर साँस का अनुभव नहीं किया तो पत्नी की पीठ अपनी ओर होने का अनुमान कर आज एक प्रकार से मुक्ति की साँस ली। दोनों ही शरीर अलग–अलग थे। फिर भी आज की असुविधा शशिभूषण को असह्य लग रही थी। वे गर्मी में जैसे अलाव के पास चारपाई पर डाल दिए गए थे। अपनी अशांति में उनकी अपेक्षा थी कि पत्नी टोके। उन्हें एक–डेढ़ मिनट की चुप्पी में ही विश्वास होने लगा कि अब किसी भी क्षण वे उनका हिचक–हिचक कर रोना सुनने लगेंगे। परंतु उनके द्रवित होने का कोई भी प्रश्न इसलिए नहीं है कि ये आँसू भी मिथ्या होंगे। विश्वासघात का ही अगला कोई रूप। मगर यह स्थिति बड़ी विचित्र थी। इतने क्षण बीत जाने के बाद भी पत्नी की किसी भी हरकत से उनके रोने की कोई संभावना प्रकट नहीं हो रही थी। अपने

अनुमान के अब तक फेल रह जाने का उन्हें दुःख था और पत्नी का अपराध और भारी लगने लगा। अब वे पत्नी के किसी भी प्रश्न की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह बोली और फिर सारा कुछ कह सुनकर इस पूरी परिस्थिति का ही वे निपटारा कर देंगे। इस तरह नहीं चलेगा। पत्नी जगी तो थी फिर उसकी किसी भी चेष्टा से नहीं लग रहा था कि वह कुछ बोलने वाली है। यह स्थिति शशि भूषण को और भारी महसूस हो रही थी। आज पत्नी करवट नहीं बदल रही थी। वे एक विचित्र विचार से क्षणभर को उत्तेजित हो गए। उन्होंने सोचा ऐसे में पत्नी अगर संपूर्ण निर्लज्जता से भी अपनी इच्छा, अपेक्षा व्यक्त कर दे तो भी वे अभी नहीं झेल सकते। अब शायद वे ऐसा कर ही नहीं सकते। यह भावना उनके लिए दुखदायी अवश्य थी। पत्नी चुपचाप पड़ी–पड़ी उसी तरह शायद सो गई। उन्होंने अपनी पाँच वर्षीय बेटी को याद किया। साधारणतः वह दोनों के बीच में ही सोती है पर आज शायद समीरा के साथ सो गई होगी। यों आज बीच में रहती तो पत्नी का सामीप्य कटा हुआ तो लगता। इतनी देर से बेटी की याद आने पर उन्हें एक शिथिल–सा खेद हुआ। लगा वे भी बेटी को प्यार नहीं करते। करवट बदलने की जरूरत लग रही थी उन्हें परंतु इस भय से वे एक ही तरफ पड़े थे कि करवटे बदलने पर साँस की हवा इसकी पीठ में लगेगी और संभव है यह इसे संधि प्रस्ताव मान बैठे। यह तो एकदम समर्पण ही होगा। ऐसा होने का उन्होंने बहुत बुरा माना। वे लेटे ही रहे। इस जगह वैसा कैसे संभव है। इतने दिनों से रह गया तो इसका एक मात्र कारण था मेरा अपना अनिश्चय। उन्होंने सोचा। लेकिन अब यह स्थिति बहुत नहीं रह सकती। दोस्ती की अपनी सीमा होनी चाहिए। निर्वाह के लिए बहुत कुछ अवांछित स्वीकारना पड़ता है। यह जितनी जल्द हो उतना ही कल्याणप्रद है। वे एक निर्णय पर पहुँच रहे थे। उन्हें अच्छा लगा। ऐसा हो जाए तो सुविधा है। रात आधी से भी अधिक जा चुकी होगी। ऐसे में, जिन मुहल्ले के आवारा कुत्तों और रिक्शा, बैलगाड़ी के झर–झर, कर–कर स्वर से वातावरण जीवित रहता है वह सब था। लेकिन शशिभूषण घुटन महसूस कर रहे थे। कितनी देर से वे बीमार से चुप–चुप थे। वे उठ गए। पूरब की ओर से बालकनी के पास दरवाजा खोला।

वे चौंक कर आँखे खोल बैठे। पत्नी ने बाँह छुई थी। वे तुरंत दूसरी ओर बाहर देखने लगे। "नींद नहीं आ रही है?" सिर में तेल डाल दूँ'? पत्नी ने सच्चे स्वर में बहुत ममत्व से पूछा। वे टाल जाते हैं। ठीक हूँ। सो जाऊँगा। पत्नी खड़ी रहती है। अब शशिभूषण को महसूस होता है यह सोई नहीं थी। नहीं सोई थी तो जगी क्या कर रही थी? उन बातों का भय सोच रही थी जिसे मेरे आते ही पकड़े जाने के डर से बीच में ही बंद कर दिया गया था और उड़े हुए चेहरों को बड़े यत्न से स्वाभाविक बनाए रखने की कोशिश की गई थी?

"यह आज आपको क्या हुआ है?" पत्नी ने डरते–डरते पूछा। शशिभूषण की आँखें जल रही थीं।

"मैं कहता हूँ यह नहीं चलेगा। राजेंद्र को अब कभी इस घर में नहीं आना होगा।" उन्होंने अप्रत्याशित रूप से इतनी उत्तेजना में यह बात कही। उनकी साँस तेज चल रही थी। पत्नी का चेहरा उड़ गया था। राजेंद्र के लिए, यह कभी ऐसा सोच सकते हैं। फिर उस पर करुणा फैल गई। उन्होंने सहमकर दाहिनी ओर देखा। समीरा के कमरे का दरवाजा बंद था। फिर भी उन्हें चिंता हो गई थी पत्नी ने दबे हुए स्वर से कहा– "छिः, चलिए कमरे में।"

"यह मेरा निर्णय है। कल से कभी नहीं देखना है मुझे राजेंद्र को अपने घर में।" पत्नी दुबारा सहम गई। कहते हुए शशिभूषण को एक खलनायकीय सुख मिलता रहा कि कैसे तड़प गई? छिः। उन्होंने थूक बेसिन की बजाय बालकनी से नीचे फेंका। पत्नी की निगाह समीरा के कमरे की तरफ थी। उन्हें शक था कि वह जगी है और उन दोनों की बातें सुन रही है। कितनी बुरी बात है यह। उन्होंने उनकी बाँह खींची– "चलिए कमरे में"। वे अड़े रहे।

"आपसे एक बहुत जरूरी बात कहनी है विश्वास करिए।" धुँधलके में भी वे उसकी आकृति टटोल रहे थे। जैसे वह बात लिखी हुई हो और

लिखी क्या हो? वे तो देख रहे हैं। अपनी कमजोरी की मजबूर कहानी सुनाई जाएगी और क्षमा के लिए मुझसे प्रार्थना की जाएगी और भविष्य के लिए एकनिष्ठ होने का अगला एक बड़ा झूठ बोलेगी। वे व्यंग्य और उत्तेजना से मुस्कुराए। "चलिए ना।" पत्नी ने लगभग खींचा। उनके साथ वे घिसटने लगे।

कमरे में आकर पत्नी ने दरवाजा बंद किया। शशिभूषण पलंग पर लेट गए। वह उनके पैताने से कुछ ऊपर बैठ गई। कुछ मिनट चुप्पी रही। फिर उन्होंने शशिभूषण के पैर पर हाथ से सहलाया। उन्हें अप्रिय तो बहुत लगा पर सह गए। प्रतीक्षा करते रहे कब वह सब रोना–धोना आरंभ होता है। रह–रहकर पत्नी उन्हें ढीठ लग रही थी।

"आज आप इतने उदास और अनमने रहे कि कुछ कहते नहीं बना। पत्नी ने साँस ली।" राजेंद्र भी बहुत दुखी थे। शशिभूषण का जी किया कि दें उलट कर एक हाथ। ढीठपने की हद ही हो गई। पति के पैताने बैठी यार के दुख रो रही है। बेहया औरत। परंतु दाँत पर दाँत रखे प्रतीक्षा करने लगे। उन्हें लगा यह सब इतना कुछ सिर्फ इसलिए कि दो वर्षों से सहते चले आए नहीं तो....

"मुझे भी डर लगता था इतने दिनों परंतु आप बुरा नहीं मानिए।" वे चुप हो गईं। "इस बार समीरा का विवाह करना है?" बात के इस मोड़ को पत्नी की धूर्तता मानकर भीतर से चौकन्ने हुए। यह इस हद तक उल्लू बना जाएगी मुझे।

"तुम सीधे–सीधे बात करो।" शशिभूषण के स्वर में उत्तेजना थी।

"हाँ। अब आजकल उतना कौन देखता है और फिर अपने मानने पर भी तो है इसी में समीरा की खुशी है।" कह कर इस तरह चुप हो गईं जैसे उन्होंने पूरी बात कह डाली। वे झुंझला गए। बात की यह स्थिति उन्होंने नहीं सोची थी। वे भीतर से उबल गए।

"आखिर क्या कहना है तुम्हें?"

"राजेंद्र से समीरा की शादी....।" वे निर्भीक स्वर में बोल गईं।

"क्या?" शशिभूषण का मुँह असामान्य अनुपात में खुला रह गया। वे पत्नी को विचित्र आँखों से देख रहे थे और पत्नी उनके इतना ऊँचा बोलने के कारण हैरान थी।

"हाँ। दोनों एक दूसरे को प्रेम करते हैं। राजेंद्र यह बात आपको नहीं कह सकते। उन्हें लगता है उनकी यह इच्छा आप दोस्ती से विश्वासघात समझ लेंगे। इसीलिए यह जिम्मा मुझे लेना पड़ा। वे बहुत भीरु हैं।" एक पल और थम कर पत्नी ने कहना शुरू किया–

और सोचिए कि उससे कितनी बड़ी समस्या भी खत्म हो जाएगी। जैसे? शशिभूषण ने अपेक्षाकृत नरम स्वर में पूछा।

"दहेज की। परंपरा और हैसियत के मुताबिक शादी करने में नहीं भी तो चार–पाँच लाख से कम खर्च पड़ेगा ही। लेकिन बड़ी बात है दोनों के सपने और जीवन की खुशी की।"

शशिभूषण पत्नी को देख रहे थे। उनकी आकृति समझ आती जा रही थी। अब वे उन सब अवांछित आसंगों में देख रहे थे समीरा को जिन्हें अपनी उत्तेजना की मनःस्थिति में तब से उन्होंने पत्नी के लिए सोचा था। भीतर से वे जैसे खुल रहे थे और वातावरण असहनीय अनुभव नहीं हो रहा था।

– पारस टियरा, टावर–8, फ्लैट नं.–102, सेक्टर–137, नोएडा–201305

❑❑❑

चाँदमाला

सुनील गंगोपाध्याय

ओ भार ब्रिजेर रेलिंग घेंषे घुमिये आछे एकजोन मानूष! एईटा
ओर दोताला बाड़ीर छादेर सपोनो

फूटपाथेर जे बाचाटा नरोदोमाए हात डूबिए खलबल कोरछे
ओके कि साध कोरे आना होअयेछे येई अनिश्चित जीबोने?
दूजोन नारी पूरूषेर रोमोनेर सुख थेकेई तो ओर जोनमो
अथोवा सुख छिलो ना, सुखेर बोध छिलो ना किमबा सेई दूईजोन होएतो चुमबोनेर सादो जोन ना
चुमबोनेर सोङ्गम किमबा जीबनचरयाओ मानुषेर पखे सबभव?

ईलिश बाजारे माछ बिक्रि कोरते आसे गौउरांगो सूलेमान
आसोले से कोखुनो सूलेमान, कोखुनो गौरांगो, एकी अङगे दूजोन
गौरांगो खूब पोस्तो खेते भालोबासे, सात बोछोर खाइनी
सूलेमान भालोबासे प्रोकाशे कूँचकि चुलकाते, सेईटा समभव नअय
बअछोरेर पर बअछोर अवोदोमन, ताई थूथू फेले जोखोन तोखोन!

परेशबाबुर बिड़ालटीर पाए के आलता पोरिये दियेछे
हातचापुड़ि दिले से दू पा तूले नाचे
माझराते से पांचिलेर ओपोर उठे पीठ झाँकाए
चोख दूटि जोलोंतो आङगार
चाँद धोरार जोने से लाफ देए आकासेर दिके खानिकबादे तार मुखे माखामाखि टाटका रकतो।

फ्लैटबाड़िर काजेर मेयेटी, सतोरा, गोलाए दोड़ी दिए झूलछे
जे जे कारोणे येई रोकोम होय, तार कोनोटाई मेलानो
जाच्छे ना
ओइखाने कोनो पूरूष मानूष नेई, दूटि विधोवा ओ एक चिरकुमारीर सोनसार
केऊ ओके चोड़–थापोड़ मारे ना, खुब बेशि चापाऊ करे ना
सोबाई आतोप चालेर भात खाये, माछेर टुकड़ोऊ प्राय
सोमान सोमान
सोंधेबेला पाड़ा बेड़ानोते कोनो बाधा नेई
तोबू तूई मोरते गेलि केनो रे मे?
झुलोंतो लाशेर उत्तोर : वाह, गोरिब मानूषदेर बूझि अकारोणे
मोन खराप होते पारे ना?

एकटा नोदी जोखोनई अनो एकटी नोदीते येसे मेशे
ओमनी एकटू दूरे आर एकटा नोदी बाईरे बेरिये जाए
ओदिक थेके आसा नोदीटीर गोअतोर दिने दिने शुकोए
ओनो नोदीटी पार भेंगे भेंगे खेए दिबबि फुरतीते आछे
मूल नोदीटी घूमेर भान कोरे पोड़े थाके जोतस्नाराते
प्रोथोम जोआरेर मृदु कूल कूलू धोनीते से गा झाड़ा दिये ओठे
फिरे–आसा नोदीटिके से बूके टेने निए जिगिस कोरे,
कि रे, तोर बूझी सोमुद्रो पोछोनदो हए ना
दूजोन जोखाने निर्लज्जताए मेते ओठे
प्राय–सुखोनो नोदीटि तोखोन चेए थाके भ्रोमाण मेधेर दिके
तार दीर्घोशाँसे आस्ते आस्ते गोड़े ओठे मेघेर ओपोर एक देवोता!

येई एक जुग येसेछे, कापूरुषराई शुधू जुद्धेर दामामा बाजाए
येई दामामागुलो जारा बानाए, तारा सोबाई जोन्माँध
बिनिमए तादेर जोने आसे प्रोचुर गिलिट कोरा आयेना
सेई आयेनाये ठोकोर खाए मोमाछी आर चोराई पाखी
मोधुलोभीरा हा हा शब्दो कोरे भोट बाक्सो, आर ऊजाने जाए नोदी
तार ओपोरेर सेतूटी नोड़बड़ कोरछे, कारोन हूँश नेई, छूटे आसछे ट्रेन
दूदिकेर रास्ता बिसतारितो होते होते खेये निछे फोसोलेर खेत
आर सेई सब फोसोल उनून खूँजते चोले जाछे निरुद्देशे
एईदिके कोतो जे ऊनून खाली पोड़े आछे, आगून नेई सूधू छाई
सारा गाये छोई मेखे गाजोनेर सङगो बेरियेछे, दरशोक नेई येकटीओ
कोथाऊ चोलछे होरीर लूट, तार बातासागुलो टपटप खेये निच्छे सय श्रीहोरि
एइ भावे गोल्पेर गोरू गाछे ओठे आर कवितार नोटी गाछटीई मूड़ोये.....

– फ्लैट नं. ए 2/9, 24, मैंडाविल गार्डन, कोलकाता–700019

❑❑❑

चाँदमाला

अनुवादक : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'

रेलिंग से सटा ओवरब्रिज की ओट से सो रहा एक आदमी
सपना है यही उसका, मंजिल हो अपना दो तल्ले छत की।

फुटपाथ पर जन्मा है जो बच्चा गंदी नाली में खेल रहा
प्रेम से क्या उसे लाया गया है अनिश्चित इस जीवन में?
स्त्री–पुरुष के परस्पर सुख से ही वह तो जन्मा होगा?
सुख नहीं था वह या सुख का अहसास नहीं था
वह दोनों शायद चुंबन का स्वाद भी नहीं जानते हों
चुंबन बिना संभोग संभव नहीं है जीवनचर्या में?

हिलसा मछली बाजार में बेचने आता है गौरांग सुलेमान
वह कभी सुलेमान है, तो कभी गौरांग, एक ही नाम में दो इनसान।
गौरांग को अच्छा लगता है पोस्तो पर सात वर्ष से वह खाया नहीं है
सुलेमान को अच्छा लगता है खुलेआम अपना फोता खुजाना, मगर यह संभव नहीं है
वर्षों से पराजित है तभी तो वह टूटता रहा है इधर–उधर जहाँ–तहाँ से।

परेशबाबू की बिल्ली के पैरों में किसी ने आलता लगा दिया है
तभी तो हाथताली देते अपना पैर दोनों उठाकर नाचने लगती है।
मध्य–रात को वह दीवार पर चढ़ कर अंगड़ाई लेती रही
मानो आँखें उसकी ज्वलंत अंगार है
तभी चाँद छूने के लिए वह कूद पड़ती है आसमान की ओर
लहू ताज़ा उसका थोड़ी देर में आया है मुँह पर और फैल।

फ्लैट की नौकरानी सत्रह साल की है, फाँसी लगाकर झूल रही है
जिन कारणों से ऐसा होता है, उसमें से कुछ भी उसके साथ नहीं है।
वहाँ न कोई पुरुष रहता, रहती है केवल सिर्फ दो विधवाएँ
वह चिरकुमारी का एक संसार है
कोई उसे डाँट–डपट, थप्पड़ नहीं मारता, न ही कोई उसे डराता है
सभी अरवा चावल खाती हैं, मछली भी सबको बराबर ही मिलती है।

शाम को पड़ोसियों के घर आने–जाने की
नहीं है कोई पाबंदी
तब तू क्यों फाँसी लगाकर मर गई रे, ये
लड़की?
किसी गरीब का मन कभी उदास नहीं होता?
झूलती लाश का यही उत्तर।

एक नदी जब दूसरी एक नदी से आकर
मिलती है
वैसी ही कुछ दूरी पर एक नदी बाहर चली
जाती है?
उधर से आई नदी का देह दिन–दिन सूखता
जाता है
अन्य नदी किनारा तोड़कर बहुत हँसती रहती
है
मूल नदी चाँदनी रात में नींद का बहाना कर
सोई रहती है
कलकल करती पहली ज्वार में जब वह
अंगड़ाई लेकर उठती है
लौटकर आई नदी को अपनी बाँहों में भरकर
पूछती है–
क्यों रे! तुझे क्या समुद्र पसंद नहीं आया?
दोनों जब निर्लज्जता में झूम उठती हैं
तब सूखी नदी देखती रहती है भ्रमण करते
बादलों को
तब उसकी दीर्घ साँसों में आहिस्ता–आहिस्ता
बनने लगता है
बादलों में एक और देवता!

यह एक ऐसा युग आया है डरपोक ही युद्ध
का दुंदुभी बजा रहा।
वह जो दुंदुभी बनाते हैं वह तो जन्म–जात
अब भी अंधे हैं
इसके लिए उनको मिलता है ढेरों गिलट
किया गया आईना
उस आईने से ठोकर खाती रहती है मधुमक्खी
और गौरैया
मधु के लालची भोट के बक्से में हाय–हाय
करते हैं, यहीं उल्टी बहे गंगा
उसके ऊपर का सेतु हिल–डोल रहा है
किसी को होश नहीं है ट्रेन आ रही है।
दोनों तरफ का रास्ता और फैलते खा गया
है फसलों का खेत
और वे सभी फ़सलें अब चूल्हा खोजती होती
जा रही हैं निरुद्देश्य
इधर कितनों का चूल्हा खाली पड़ा है, उसमें
आग नहीं, राख भरा है
अपनी देह पर वही राख लपेटे कीर्तन करने
निकले हैं, पर कहीं कोई दर्शक नहीं है खड़ा
कहीं चल रही है हरिलूट, और उसमें का
बतासा झपट खाते जा रहे हैं स्वयं ही श्रीहरि
इस तरह कहानी में गाय पेड़ पर चढ़ती है
और कविता की नोनी घास को नोचती है....

– हैजलवुड स्कूल, पोस्ट : सोंढ़ा, हेमनगर (बाजार समिति के पास) छपरा सारण, बिहार–841302

❑❑❑

कविता

डॉ. मनोरंजन विसोई

शब्द ओ भाबकु
नेई मु
कविता लोखिथाए।
कही पारी न थिबा
अनेक कथा
कवितारे कहिथाए।
आउ कवितार
प्रति शब्दरे
निजुक हीं
खोजी पाई थाए।
तथापि अनेक कथा
कबितारे कही न पारी
अकुहा रही जाए।
जाहा कागज पृष्ठार
शब्दरे धरा न देइ
लुह होइ बही जाए।

– स्नातकोत्तर ओड़िया विभाग, ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय, भंज विहार, ब्रह्मपुर, गंजाम, ओड़िशा – 760007

❑❑❑

कविता

अनुवाद : यज्ञदत्त सामंतराय

शब्द और भाव को
लेकर मैं कविता लिखता हूँ।
अनकही अनेक बातें
कविता में कहता हूँ।
और कविता के
हर शब्दों में
खुद को
तलाशता हूँ।

फिर भी बहुत सारी बातें
कविता में कह नहीं पाता
जो अकथनीय
रह जाती हैं।
जो कागज के पन्ने के
शब्दों में नहीं समाकर
आँसू बनकर बह जाती हैं।

– सामंतराय भवन, कविसूर्य नगर, गंजाम, ओड़िशा–761104

❑❑❑

समय सापेक्ष दोहा–संग्रह 'दर्पण समय का'

डॉ. कल्पना शर्मा

अपनी प्रभावी और प्रशंसनीय साहित्यिक कृतियों द्वारा हिंदी साहित्यजगत में विशिष्ट पहचान बनानेवाले कवि हरीलाल 'मिलन' जी का दोहा–संग्रह 'दर्पण समय का' भाव और भाषा का अनूठा संगम है। इसे मिलन जी की 'दोहावली' कही जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस कृति में कवि ने दोहा छंद में अपने जीवन की अनुभूतियों को सहज, सरल अभिव्यक्ति दी है। कहीं–कहीं उनका अर्थ–गांभीर्य अद्भुत दिखाई देता है। जब उनकी अवस्था मात्र 13–14 वर्ष की रही होगी तभी एक दोहे की रचना कर उन्होंने अपने भावी काव्य–व्यक्तित्व की झलक दिखा दी थी–

सतसैया के सामने, सभी काव्य हैं व्यर्थ।
जितने अर्थ निकालिए, उतने निकलें अर्थ।।

दोहे के माध्यम से कवि समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। उनके दोहों में कहीं आदिकवि वाल्मीकि की वाणी सुनाई देती है, कहीं संत कबीर का 'ढाई–आखर प्रेम' का महत्व दिखाई देता है और कहीं कविवर सुमित्रानंदन पंत का स्वर गूँजता है...

देख क्रौंच–बध शाप में, उभरा ऐसा छंद।
वाल्मीकि का कवि हुआ, स्वयं सच्चिदानंद।
चार चरण में आज भी, कल जैसी ही पीर।
दोहे स्वयं रहीम हैं, दोहे स्वयं कबीर।।

कवि चिंतित है कि आज साहित्य–सृजन के मायने बदल गए हैं। प्रत्यक्ष या परोक्षतः लोककल्याण की स्वस्थ चेतना को दर्शाती 'स्वान्तःसुखाय' 'परिजन हिताय' की भावना भी विलुप्त हो गई है–

यश की लिप्सा देखकर, है साहित्य उदास।
सम्मानों की भूख है, सम्मानों की प्यास।।

कवि की काव्य–सृजन की प्रक्रिया एक अनूठे उद्देश्य से प्रेरित है–

अन्तस की संवेदना, अंतस की मुस्कान।
दोनों मिलकर डालते, काव्य–कला में प्रान।।

कवि मिलन समय और समाज की नब्ज़ पर बराबर अपनी पैनी दृष्टि रखते हैं, चाहे वह क्षेत्र राजनीति का हो, सामाजिक मान्याताओं का हो, शिक्षा का हो, साहित्य का हो, नैतिक मूल्यों का हो, या धार्मिक सिद्धांतों का हो। राजनीति तो आज साहित्य के लिए बड़ी उर्वर भूमि प्रदान करती है। कवि मिलन तीखा प्रहार करते हैं–

लिए कटोरा हाथ में, वह भूखा इनसान।
बोल रहा है भीड़ में, मेरा देश महान।।

स्वतंत्रता–प्राप्ति, देश को परतंत्रता की जंजीरों से मुक्त कराने का महान् उद्देश्य न जाने कहाँ

दर्पण समय का / लेखक–हरीलाल 'मिलन' / प्रकाशक–भावना प्रकाशन / 109–ए, पटपड़गंज गाँव, दिल्ली–110091 / प्रकाशन वर्ष–2020 / कुल पृष्ठ–136 / मूल्य : ₹350 / –

विलुप्त हो गया है। देश की बागडोर सम्हालने वाले हाथ स्वार्थ की कालिख से रंग गए हैं–

चीख रहीं कुर्बानियाँ, सिसक रहा इतिहास।
स्वतंत्रता पतझर हुई, स्वार्थ हुआ मधुमास।।
सुनते–सुनते कर्ण–पट, हुए बहुत कमजोर।
रामराज्य की डुगडुगी, लोकतंत्र का शोर।

दोहा–छंद में रचना करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है जिसमें मिलन जी सिद्धस्त हैं। वे अपने आलोचकों को अत्यंत गंभीर उत्तर देते हैं–

मेरे छंदों में रहे, युग–युग के आक्रोश।
काव्यशात्री ढूँढते, केवल मात्रा–दोष।।

आज हास्य–व्यंग्य को ही काव्य का पर्याय मान लिया गया है। आहत कवि–मन 'चले चुटकुले मंच पर, गीत रहे हैरान' जैसे भाव–पूरित दोहे की सार्थक अभिव्यक्ति देकर काव्य–मंच की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठापित करना चाहता है। समाज में व्याप्त अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार और अत्याचार से दोहाकार चिंतित है। गरीबों, स्त्रियों, मजदूरों, सदाचारियों पर हो रहे अत्याचार से जन–मन कुंठित हो गया है लेकिन कवि–मन द्रवित है–

इतने नीचे गिर गई, उँचाई उस रोज।
जब दुवृत्त–भुजपाश से, छूटी नहीं सरोज।
लुकती–छिपती–भागती, भरे नयन में नीर।
रखे द्रौपदी के लिए, कृष्ण कहाँ तक चीर।।

स्वार्थ में अंधी दुनिया में कोई कोना सुरक्षित नहीं है। मानवता व्याकुल होकर भाग रही है कोई उसको आश्रय देनेवाला नहीं है। जो रक्षक हैं वही भक्षक बन गए हैं। सर्वहारा के लिए जीवन–यापन बहुत कठिन हो गया है क्योंकि 'रखवाली' में भूख है, देख–रेख में प्यास। सुविधाओं से 'लैस' है, निर्धन का आवास। उसकी भूख, लाज, लाचारी, बीमारी, आश्रय सभी उसके शत्रु हो गए हैं। कहाँ जाएँ, क्या करें...किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। ग्रामीण संस्कृति भी बदल गई है। बाहुबलियों के अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं। पंच–परमेश्वर विलुप्त हो गए हैं। पहले डाकुओं के कुछ उसूल हुआ करते थे, आज तो कचहरी में गवाही देनेवाला निरपराध भी बेमौत मार दिया जाता है। कवि–मन की तड़पन देखें–

गया कचहरी साक्ष्य में, बबुआ सत्यप्रकाश।
सुबह ईख के खेत में, पाई उसकी लाश।।

कवि का वाक्चातुर्य अनूठा है। उसने समाज की प्रत्येक धड़कन को अनुभव किया है। समाज में तेजी से घुलते सांप्रदायिकता के विष पर, घर, परिवार, शिक्षा, बदलते आदर्श, आधुनिक तकनीक आदि सभी विषयों पर निडर होकर लेखनी चलाई है। प्रकृति का सूक्ष्म अवलोकन कर उसका काव्य–निरूपण करना कवि को बहुत प्रिय है। प्रकृति मानव की सुख–दुख की सहचरी है। मानव के अधरों पर मुस्कान आते ही प्रकृति मुस्कुराने लगती है और आँखों में आँसू आने पर वह स्वयं अश्रुमय हो उठती है–

ना जाने किस बात पर, रोया है आकाश।
आँसू है या ओस है, जो चुन रहा प्रकाश।
हरी दूब की देह पर, मोती जैसी ओस।
भरने आती धूप नित, अपना खाली कोष।

कवि मिलन के दोहे जीवन के प्रत्येक अंग एवं अवस्था के साथ जुड़े हैं। ऐसा लगता है जैसे कवि ने जन–मन को ही इन दोहों में गूँथ दिया है। एक अपनत्व का भाव, एक सहमति और एक जुड़ाव का अनुभव होता है। बढ़ती उम्र पर कवि की अभिव्यक्ति बहुत ही प्रशंसनीय है–

साँस थकी सपने थके, थकी हृदय की प्यास।
उम्र समय से पूर्व ही, होने लगी उदास।।

मानव–जीवन में गृहस्थ–जीवन का विशेष महत्व है। जीवन का यह पक्ष यदि पुष्ट है तो जीवन प्रेम के प्रकाश से आलोकित रहता है और आनेवाली पीढ़ियाँ भी मानसिक एवं शारीरिक रूप से पुष्ट होती हैं। इस तथ्य को कवि गहराई से अनुभव करता है–

कर न सकेंगी बिजलियाँ, कोई घर बरबाद।
मुझ जैसी छत हो अगर तुझ जैसी बुनियाद।।
नारी सरित अथाह है, नर है सिंधु अपार।
मिले प्रकृति की ओर से, ये पावन उपहार।।

परिवार का विघटन, पति–पत्नी के आपसी मतभेद, पारिवारिक–कलह और बढ़ते 'तलाक' प्रकरणों के लिए कवि के भाव संजीवनी बूटी जैसे हैं। उसकी सिंह–दृष्टि दहेज–प्रथा की बुराइयों से ग्रसित स्थिति–परिस्थिति पर भी जमी रहती है–

लपटें उठी दहेज की, भस्म हो गया नेह।
अग्नि–कुंड में जल गई, मृगनयनी की देह।

कवि मिलन जी के दोहों में व्यंग्य का भी सफल प्रयोग हुआ है। विसंगतियों पर वे तीखा प्रहार करते हैं। न्यायालयीन प्रक्रिया पर "पत्रावलियाँ क्या करें, है तिथियों का जाल। धनी हुआ अन्याय अब, न्याय हुआ बेहाल" दोहे में 'उक्ति वैचित्र्य' सराहनीय है तो शिक्षा प्रणाली पर "द्रोणाचार्य उदास हैं, दे कैसे आशीष। मिली नहीं दो माह से, जब अर्जुन की फीस" दोहे में उनकी कहन का तेवर द्रष्टव्य है। आज बच्चे देश में शिक्षित होकर विदेश चले जाते हैं। अधिकांश वहीं की नागरिकता भी प्राप्त कर लेते हैं। अनेक ऐसी घटनाएँ प्रकाश में आई हैं कि वृद्ध माता–पिता वापस लौटने की प्रतीक्षा करते–करते परलोक सिधार जाते हैं–

ये कैसी उँचाइयाँ, ये कैसा परिवेश।
मात–पिता है देश में, बच्चे बसे विदेश।

आज विश्व 'कोरोना' महामारी से बेहाल है। देश–दुनिया के काम–काज ठप हो गए हैं। आत्मीय संबंध जीर्ण–शीर्ण हो गए हैं। मनुष्य, मनुष्य से भयभीत है–

भय में आया संक्रमण, बेटा हुआ हताश।
अस्पताल आया नहीं, लेने माँ की लाश।।

सारांशतः कवि हरीलाल 'मिलन' का यह दोहा–संग्रह 'दर्पण समय का' पूर्णतः प्रासंगिक है, समय सापेक्ष है। रोचक, पठनीय और समाज का मार्ग–दर्शन करने के लिए एक 'दीपदंड' है। निश्चय ही यह कृति आज के विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है। ऐसी रचनाओं को यदि पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए तो विद्यार्थियों को जीवन को समझने के लिए एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। मिलन जी की अन्य रचनाओं की भाँति यह कृति भी उच्च कोटि की है। आशा है भविष्य में इनकी लेखनी से अन्य उत्कृष्ट कृतियों का सृजन होगा जिससे समाज उससे लाभान्वित होगा। मिलन जी के इस समाजोपयोगी श्रेष्ठ साहित्य पर एक 'शोध प्रबंध' भी प्रस्तावित है। मिलन जी को उनकी कालजयी श्रेष्ठ रचनाओं के लिए साधुवाद देती हूँ।

– शा. कमलाराजा कन्या स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर, मध्य–प्रदेश

❑❑❑

प्रेम की सौंदर्यानुभूति का सतरंगी संसार : 'पॉल की तीर्थयात्रा'

योगेंद्र सिंह

प्रेम मानव जीवन का शाश्वत सत्य और सार तत्व है। यह मानवीय समाज को असभ्य से सभ्य, पाश्विक से दैविक तथा लौकिक से अलौकिकता की अनुभूति से जोड़ता है। प्रेम लौकिक जगत के कण–कण में वास करता है और अपनी दिव्य अनुभूति से संपूर्ण चर–अचर संसार को सुगंधित करता रहता है। यह अपने विविध स्वरूपों में मानवीय समाज एवं संबंधों को एक दूसरे से माला के मोती के जैसे बाँधे रखता है। इस प्रकार प्रेम मानवीय संबंधों की आधारशीला है, जिसके ऊपर ही उसके जीवन का विस्तार टिका हुआ है। यद्यपि समय के साथ–साथ प्रेम का स्वरूप व परिभाषाएँ बदलती रहती हैं जिसमें छल एवं द्वेष ने प्रेम की वास्तविक छवि को थोड़ा कलुषित अवश्य किया है तथापि प्रेम, प्रेम के ही नैसर्गिक रूप में ही जाना व जिया जाता है। प्रेम के इसी वैशिष्ट्य को रविंद्रनाथ टैगोर इस प्रकार रेखांकित करते हैं, "प्रेम का दायरा सीमित नहीं है। यह प्रेम व्यक्त–अव्यक्त के प्रति, जड़–चेतन के प्रति समवयस्कों का एक–दूसरे के प्रति होता है। प्रेमभाव के बिना जीवन सुचारू ढंग से नहीं चल सकता। प्रेम ही कुटुंब और समाज का आधार है।"[1] प्रेम का यही प्रेममय रूप प्रेम की सार्थकता है और यही प्रेम की पूर्णता भी है।

भारतीय वाङ्मय में प्रेम के ऐसे ही विविध स्वरूपों की रहस्यानुभूति हुई है। हिंदी साहित्य में भी राधा व मीरा को ऐसे ही पवित्र प्रेम के प्रतिमान के रूप में स्थापित किया गया है। महाकवि कालिदास प्रेम के इसी औदात्य रूप को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, "निस्संदेह प्रेम में संतप्त प्राणी चेतन और जड़ का भेद करने में असमर्थ नहीं होते हैं।"[2] इस तरह मानव जीवन में प्रेम दर्शन भी है और कामानुभूति भी है। यह मनुष्य को मनुष्य बनाता है और जीवन जीना सिखाता है। प्रेम का यही गुण उसका वैचित्र्यभाव है जो कि देश, काल एवं स्थान नामों की सीमाओं से परे जाकर प्रेम की नई परिधि का निर्माण करता है। अर्चना पैन्यूली ने अपने उपन्यास 'पॉल की तीर्थयात्रा' में ऐसे ही विचित्र प्रेम को सौंदर्यानुभूति प्रदान की है, जिसमें आस्था एवं समर्पण की पक्की जमीन पर स्त्री–पुरुष संबंधों का सतरंगी संसार समाया हुआ है। 'पॉल की तीर्थयात्रा' उपन्यास की इसी वैचारिक पृष्ठभूमि पर डॉ. विजया सती इस प्रकार से प्रकाश डालती हैं, 'पॉल की तीर्थयात्रा' उपन्यास कोपेनहेगेन की पृष्ठभूमि पर रचित है। भारतीय मूल की नीना और उसके स्कॉटिश/डेनिश पति पॉल के जीवन की यादें और साथ सहे सुख–दुख उपन्यास का ताना–बाना बुनते हैं। उपन्यास में प्रेम, विवाह और दांपत्य की

पॉल की तीर्थयात्रा/ लेखिका–अर्चना पैन्यूली/ प्रकाशक–राजपाल एंड संस, 1590 मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006/ प्रकाशन वर्ष : 2016/ कुल पृष्ठ : 192/ मूल्य : ₹265/–

वास्तविकता परत–दर–परत खुली है। "पति–पत्नी के रिश्तों के इंद्रधनुषी रंगों के साथ–साथ यहाँ दुख–दर्द–संदेह की कालिमा भी है।"[3] अस्तु यह उपन्यास स्कॉटलैंड निवासी पॉल और भारतीय मूल की एक तलाकशुदा स्त्री नीना की प्रेम कहानी एवं उनके दांपत्य जीवन के इर्द–गिर्द बुना गया है।

भारतीय जीवनदर्शन में दांपत्य संबंधों में स्त्री–पुरुष के प्रेम को प्रेम के सात्विक रूप में माना गया है। आस्था एवं समर्पण इस प्रेम की धुरी बनकर संपूर्ण मानव जीवन को प्रेममयी बनाए रखते हैं और संपूर्ण मानव जीवन इसी प्रेम के प्रकाश में गुंजायमान होता रहता है किंतु पाश्चात्य संस्कृति में प्रेम का भिन्न और विपरीत रूप मिलता है। यहाँ मानवीय संबंधों में प्रेम की अनुभूति संबंधों की आवश्यकताओं एवं उपयोगिता पर निर्भर करती है। परिणामस्वरूप वहाँ संबंधों का बनना व बिगड़ना जीवन की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है ना कि उन संबंधों में विद्यमान प्रेमानुभूति पर। अर्चना पैन्यूली ने अपने उपन्यास 'पॉल' की तीर्थयात्रा' में भारतीय जनमानस की दृष्टि में पाश्चात्य जगत की इसी छवि को तोड़ने का कार्य किया है। वे उपन्यास के नायक 'पॉल के रूप में प्रेम की ऐसी छवि गढ़ती हैं, जिसमें अपने प्रेम के प्रति आस्था व समर्पण का भाव कूट–कूट कर भरा हुआ है। इसके विपरीत उसकी भारतीय मूल की पत्नी 'नीना' में प्रेम के इन सात्विक गुणों का सर्वथा अभाव दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार लेखिका ने विदेशी जमीन पर दो विपरीत ध्रुवों के बीच में आस्था एवं समर्पण की नई जमीन निर्मित की है जिससे संदेह एवं अलगाव के द्वंद्व के बीच प्रेम पनपता है और जीवित भी रहता है। डॉ. एस. के. भारद्वाज उपन्यास के इसी वैशिष्ट्य को इन शब्दों में रेखांकित करते हैं, 'पॉल' की तीर्थयात्रा' एक स्वस्थ चित्त प्रेमी की गाथा है। मगर विडंबना तो देखिए कि उसका ये स्वस्थ–चित्त प्रेम ही उसके वैवाहिक जीवन में रोड़ा बना रहता है। दो विवाह किए, दोनों असफल। पत्नियाँ न उसे समझ सकीं, न उसके प्रेम को और उससे अलग होती गईं। उपन्यास मर्मस्पर्शी है, जिंदगी के उतार–चढ़ावों को संजीदगी के साथ प्रस्तुत करता है।"[4] अस्तु 'पॉल की तीर्थयात्रा' उपन्यास में नायक 'पॉल' का प्रेम देशकाल और सीमाओं की परिधियों को लाँघकर प्रेम को नए रूप में परिभाषित करता है, जिसमें एक ओर आगामी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का भाव निहित है तो वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति से गहन संपृक्ति का भाव भी समाहित है।

'पॉल की तीर्थयात्रा' उपन्यास का नायक 'पॉल' स्कॉटलैंड का मूल निवासी और पेशे से शिक्षक है। उसकी परदादी एक भारतीय महिला थी, जिसके कारण उसके व्यक्तित्व में भारतीयता की झलक विद्यमान है। अपने व्यक्तित्व की इसी विशेषता एवं पीढ़ियों के जुड़ाव के कारण उसमें भारत एवं भारतीय संस्कृति के प्रति गहन अनुराग है। इस संबंध में पॉल स्वयं कहता है, "मुझे ध्यान आता है, मेरे कई दोस्त कहते थे कि वे एशियन व अफ्रीकन लड़कियों की तरफ आकर्षित नहीं होते। मैं व्यक्तिगत रूप से भारतीय लड़कियो ंको पसंद करता हूँ। वे खूबसूरत और स्त्रियोचित होती हैं। मेरी राय में, भारतीय लड़कियाँ सौंदर्य का मानक निर्धारित करती हैं।"[5] पॉल का यह कथन उसके भारतीय स्त्रियों के प्रति सौंदर्याकर्षण तक ही सीमित नहीं है अपितु उसके भारतीय समाज एवं संस्कृति में स्त्रियों के प्रति सम्मान एवं उनके सामाजिक महत्व के विशद ज्ञान को भी रेखांकित करता है, जिसकी सबसे बड़ी वजह पॉल के परिवार की जड़ों का सीधा संबंध भारत से जुड़ा होना है। पॉल की परदादी एक भारतीय महिला थी, इसी कारण से वह एवं उसका पूरा परिवार कहीं न कहीं भारतीयता से जुड़ा हुआ है। नीना के माता–पिता से पहली मुलाकात पर जब नीना की माँ उसके परिवार के विषय में पूछती है तो वह सहर्ष बतलाता है, "नीना बता रही थी कि तुम्हारी दादी इंडियन थी", शीला देवी बोली।

"दरअसल मेरी ग्रेट–ग्रेट ग्रैंडमाँ इंडियन थी।"

हाँ...मैं साँस भरते हुए बोला, "मेरे ग्रेट–ग्रेट–ग्रैंडपा शिप कैप्टन थे। इंडिया जाते थे चायपत्ती लाने। वहाँ से अपने लिए लड़की भी ले आए...।"

कहते हुए मैं हँस पड़ा। नीना भी खिलखिला पड़ी। उसके माता–पिता सिर्फ मुस्कुराए। "मैं तो फिर भी इतना इंडियन नहीं लगता, लेकिन मेरी बहन एकदम इंडियन लगती है।"[5] यद्यपि पॉल के पारिवारिक जीन्स में भारतीय मूल का यह जुड़ाव उसे भारतीयता से जोड़ता है तथापि वह मूल रूप से स्कॉटलैंड निवासी होने के कारण स्कॉटलैंड की गौरवशाली सभ्यता व संस्कृति से भी पूरी तरह जुड़ा हुआ है। वह स्वयं के एक स्कॉटिस नागरिक होने पर गर्वानुभूति का अनुभव करता है।

पॉल की नीना से पहली मुलाकात भी स्कॉटलैंड के एक पारंपरिक लोकनृत्य कार्यक्रम में हुई थी। जहाँ पर पॉल उस स्कॉटिश हॉलैंड नृत्य प्रस्तुति मंडली का सदस्य था तथा नीना उस नृत्य कार्यक्रम को देखने आई हुई दर्शक थी। लेखिका अर्चना पैन्यूली ने पॉल व नीना के मिलने को 'मिलन एक संयोग' नाम के अध्याय में रोचक पूर्ण शैली से वर्णित किया है। "दर्शकों में नीना भी शामिल थी। एक वही थी जो प्रशंसनीय नजरों से हमें निहार रही थी। फिर जब उसकी नजरें मुझसे टकराई, वह मुस्कुराने लगी। अपना हाथ हिलाने लगी। उसकी उस मुस्कुराहट व इशारे के साथ कुछ बदल गया। मेरी सारी घबराहट खत्म हो गई और मैं एक अनजाने जोश व आत्मविश्वास से लबालब हो गया और मस्त होकर थिरकने लगा। वह मेरे नादमय पदन्यास, मेरी मुखमुद्रा को एकटक ताकते हुए मुस्कुराती रही, मैं थिरकता रहा। एक समा बँध गया।"[6] प्रेम संयोग और वियोग दोनों ही रूपों में मानव जीवन को बाँधे रखता है। यह अपने विविध रूपों में प्रेमी, प्रेमिका और उनसे जुड़े संपूर्ण परिवेश को प्रभावित करता है। प्रेम के ऐसे ही विविध स्वरूपों में एक तरफा प्रेम भी है। पॉल का नीना के प्रति यह लगाव ऐसे ही विचित्र आकर्षण एवं लगाव की परिणति है, 'पहली नजर का प्रेम'। पॉल का हृदय नीना की उसी कुटिल मुस्कान से बिंधा गया जिससे कभी दुष्यंत शंकुतला की मुस्कान से हीर की मुस्कान से रांझे का दिल बिंधा होगा। "नीना के साथ लव–एट–फर्स्ट–साइट था। उसकी सुंदरता की तुलना किसी गोरी महिला की सुंदरता से नहीं करते, क्योकि एशियन व यूरोपियन नारियों की सुंदरता का अपना–अपना पैमाना है, जैसे सेब व संतरे की अपनी अलग ही खूबियाँ हैं, उनकी परस्पर स्पर्धा नहीं हो सकती। मुझे नीना के सौंदर्य में एक कशिश नजर आती थी। जो सहज ही आकर्षित करती थी। सांवला–सलोना रंग, सुंदर मुखड़ा, पनीली आँखे, केशों की काली लटें जब उसके कंधों पर छाती थीं तो उसके रूप को और भी लावण्यमय बनाती थीं।"[7] नीना और पॉल दोनों ही तलाकशुदा हैं और दोनों की ही पहली शादियों से दो–दो बेटियाँ हैं। उन दोनों में ही बहुत सारी समानताएँ थीं जो उन्हें एक–दूसरे के नजदीक लाने में और अधिक सहायक हो रही थीं। पॉल नीना के सौंदर्य पर मंत्रमुग्ध था तो वहीं नीना अपने पहले प्यार की गलतियों से सीख लेकर एक पूर्ण समर्पित पति चाहती थी। जोकि उसके व उसके परिवार के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित एवं संवेदनशील हो। उसे पॉल के व्यक्तित्व में वे सभी खूबियाँ नजर आ रही थीं। एक–दूसरे के व्यक्तित्व की यही विशेषताएँ उन्हें धीरे–धीरे पास ला रही थीं और यकायक उन दोनों ने एक होने का निर्णय कर लिया। पॉल बेहद संजीदगी से यही स्वीकारता है–

"धीरे–धीरे हम दोनों ही अपनी छोटी–बड़ी हर बात एक–दूसरे से शेयर करने लगे थे।"

"नीना इस हफ्ते लूसी–ग्रेसी मेरे पास आ रही हैं, दो हफ्तों के लिए।"

"क्या–क्या प्रोग्राम बनाया है उनके लिए?" वह मुझसे पूछती, मुझे सलाह–मशवरा देती। हम एक–दूसरे के जीवन के अनिवार्य अंग बनने लगे। फिर उस दिन एक लंबी बातचीत के बाद मैंने उससे कहा, "मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ, नीना।"

"क्या कहना चाहते हो?" उसने बहुत सहजता से पूछा।

"मैं समझता हूँ, हम केवल अच्छे दोस्त भर नहीं हैं, उससे बहुत आगे निकल चुके हैं, जो रिश्ता हमारे बीच कायम हो चुका है...उसे...।"

"प्यार कहते हैं, नीना ने हँसते हुए मेरा वाक्य पूरा किया।"

"यस! आई लव यू, नीना।"

आई लव यू टू, पॉल।[8]

नीना और पॉल के प्रेम की सहमति के पश्चात् दोनों एक दूसरे के परिवार से मिलने का निर्णय करते हैं। पॉल नीना के माता–पिता से मिलने जाता है। वहाँ पर नीना की पूर्व जिंदगी के कई अनजाने पहलुओं से वह परिचित होता है। नीना के पिता रामचंद्रजी से वह जानता है कि नीना अपनी स्नातक की पढ़ाई के समय ही अपने डेनिश ब्वॉयफ्रैंड ओलिवर से गर्भवती हो जाती है और मात्र बीस वर्ष की अवस्था में ही उन दोनों का विवाह करना पड़ा था। इस जानकारी के मिलने से पॉल को पहला धक्का लगता है। वह नीना की भारतीयता से जुड़ा था। उसे नीना की सुंदरता में भारतीय नारी की सुंदरता प्रतीत होती थी, जिस सुंदरता को पॉल सारी दुनिया की स्त्रियों की सुंदरता का पैमाना मानता था, वह तो भारतीय होते हुए भी भारतीय नहीं थी। पॉल से नीना के विषय में बात करते हुए नीना के पिता बतलाते हैं, "नीना ने हमारे भारतीय लोगों से बहुत कुछ अलग किया है। मगर उसने बहुत सारे ब्वॉयफ्रैंड्स नहीं बनाए। तुम उसके दूसरे ब्वॉयफ्रेंड हो। वह तैंतीस वर्ष की है, तैंतीस साल में दो ब्वॉयफ्रेंड कोई बहुत ज्यादा नहीं है और वह डेनिश है, इंडियन नहीं है। वह यूरोपियन है– ई.यू. (यूरोपियन यूनियन) सिटीजन है। हम उससे भारतीय तौर–तरीकों पर चलने की उम्मीद नहीं कर सकते।"[9] पॉल जो कि पेशे से एक शिक्षक था, अपनी जड़ों एवं संस्कारों से जुड़ा हुआ व्यक्ति था। उसके लिए नीना का यह अपिरिचत रूप था, जिसकी उसने कभी कल्पना नहीं की थी। बहरहाल इन सभी के बीच सबसे बड़ा सत्य यह था कि वह नीना से बेहद प्रेम करता था और इसी प्रेम की प्राप्ति हेतु वह नीना की पूर्व जिंदगी को अनदेखा करके आगे बढ़ जाना चाहता है। आगे बढ़ने की इसी कशमकश में वह अपने भविष्य को लेकर चिंतित होता है, "नीना के साथ उसके घर में बिताई वह शाम बेहद हसीन थी। आज मैं उन पलों को याद करते हुए आह्लादित होता हूँ किंतु यह एक घिसी–पिटी रोमांटिक उक्ति होगी अगर मैं यह कहूँ कि उस पल से हम अविभाज्य हो गए। हमने एक–दूसरे के साथ जीने–मरने की सौगंध खा ली। बल्कि सच्चाई यह थी कि मेरे जीवन में नीना के आगमन ने कई संदेह, प्रश्न व चिंताएँ उत्पन्न की हुई थीं।"[10] इसी तरह की एक सबसे बड़ी चिंता पॉल के नीना से विवाहोपरांत स्कॉटलैंड में अपने परिवार को छोड़कर डेनमार्क में नीना के परिवार के पास जाकर बसने की थी। एक तरह से उसे दोबारा से अपने जीवन की शुरुआत करनी थी। आखिरकार दोनों ही परिवारों की सहमति से स्कॉटिस व भारतीय दोनों ही परंपराओं के अनुसार वे वैवाहिक जीवन में बँधकर एक–दूसरे के हो गए। इस मिलन की कीमत पॉल ने अपनी मातृभूमि व अपने परिवार से बिछड़कर चुकाई थी, लेकिन नीना के प्रेम की प्राप्ति के लिए यह कोई ज्यादा कीमत नहीं थी। इसलिए मन–बेमन से पॉल ने इसे स्वीकार भी कर लिया। फिर इसे स्वीकार करने की वजह उसके पास थी, 'नीना'! वह नीना से बहुत प्रेम करता था। नीना ने उसके जीवन को पूर्ण कर दिया था। एक पत्नी के जिस रूप की कल्पना पॉल ने की थी, नीना वही थी। "मेरे दिल की खाली जगह धीरे–धीरे भरने लगी। नीना को पाकर जीवन में एक संपूर्णता सी महसूस होने लगी। जो बात मुझे नीना में सर्वाधिक पसंद आई थी– उसका स्वतंत्र, पक्के इरादोंवाला और महत्वाकांक्षी व्यक्तित्व। वह एक मजबूत इच्छाशक्ति वाली थी"[11] यद्यपि पॉल व नीना में कई समानताएँ थीं, तथापि सत्य यही था कि पॉल एक स्कॉटिश तथा नीना एक भारतीय थी। जब दो भिन्न संप्रदायों, संरचनाओं के लोग विवाह करते हैं तो केवल वह दोनों ही नजदीक नहीं आते अपितु उनके धर्म, समाज एवं संस्कृति भी इससे प्रभावित होते हैं। प्रेम की शुरुआत में यह बुनियादी भिन्नताएँ नजर नहीं आती हैं किंतु विवाहोपरांत धीरे–धीरे इन सभी विषमताओं का एहसास होने लगता है। यदि व्यक्ति इन सभी भिन्नताओं से समझौता कर लेता है तो उसका जीवन सुखमय हो जाता है अन्यथा वैवाहिक

जीवन में संघर्ष व समस्याओं के रास्ते खुल जाते हैं।

पॉल व नीना के बीच में भी यही बुनियादी अंतर समस्या पैदा कर रहा था। पॉल बच्चों की शिक्षा व संस्कार को लेकर सख्त था, जबकि नीना ने अपनी बेटियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की हुई थी। पॉल को नीना की बेटियों की यह स्वछंदता अंधकारमय नजर आई। वह अपने पिता होने के अधिकार को जताता, लेकिन नीना की बेटियों को यह सब बँधन लगने लगा। परिणामस्वरूप उनकी खुशहाल गृहस्थी में कलह पनपने लगी। अक्सर इन्हीं बातों को लेकर वे आपस में झगड़ने लगते हैं–

मैंने उनसे पूछा, "यह तुम आपस में इंग्लिश में क्यों बात करती हो?"

"तो किसमें करें?" बड़े रूखे स्वर में करीना ने पूछा।

"तुम्हारी एक विरासत भारतीय है और दूसरी डेनिश है। या तो डेनिश में बात करो या अपनी भारतीय भाषा में।" मैंने तर्क दिया।

"माँ इंडियन, पिता डेनिश, सौतेला बाप स्कॉटिश. ..हम दरअसल क्या हैं, हम नहीं जानतीं।"[12] पॉल इस प्रकार के उत्तरों से निराश हो जाता। उसकी निराशा और ज्यादा तब बढ़ जाती जब नीना अपनी बेटियों करीना और जोहना को टोकने के बजाय पॉल को ही दोषी ठहरा देती? इस सबके बावजूद भी पॉल से बेहद प्रेम करती थी। अपने प्रेम की परिणति वह संतान के रूप में चाहती थी। किंतु यहाँ भी दुर्भाग्य नीना का साथ नहीं छोड़ता है। कम उम्र में माँ बनने तथा अत्यधिक तनाव में रहने के कारण वह प्राकृतिक रूप से गर्भधारण करने के योग्य नहीं रही। परिणामस्वरूप वह कृत्रिम विधि से गर्भधारण करने का विकल्प अपनाती है। पॉल उसे बार–बार दर्दनाक प्रक्रिया से गुजरता देखकर और अधिक दुखी होता है लेकिन नीना की संतानोत्पत्ति की चाह के आगे हर बार हार जाता। वह पॉल से कहती है, "मैं फिर से मातृत्व का सुख लेना चाहती हूँ, तुम्हारे बच्चे की माँ बनना चाहती हूँ, एक बेटा चाहती हूँ...।" वह अधीरता से बोली।

"क्या गारंटी है बेटा होगा?"

"गारंटी तो किसी बात की नहीं है। हम बस चांस ले सकते हैं। चांस न लेने से तो कुछ भी नहीं होगा– न लड़का, न लड़की।" मैं नहीं चाहता था कि नीना बार–बार स्वयं को आईवीएफ की दर्दनाक प्रक्रिया के अधीन करे। इसलिए मैंने तो आईवीएफ की असफलता के बाद इनकार कर दिया था। मगर वह मानी नहीं मुझसे जिद करती रही। उसकी जिद पर हम एक साल बाद फिर फर्टिलिटी क्लिनिक गए, दो असफल आईवीएफ और हुए फिर वह चालीस की हो गई। हम दोनों ने बच्चे की बात करनी बंद कर दी।[13] स्त्री की पूर्णता माँ बनने में ही मानी जाती है। नीना दो पुत्रियों की माँ थी, फिर भी एक पुत्र की चाह में वह अंदर ही अंदर घुट रही थी। पॉल एवं नीना के दांपत्य जीवन के इसी अलगाव को डॉ. मधु संधु इस रूप में देखती हैं, "पॉल और नीना के इस रिश्ते का उदात्त धीरे–धीरे गहरे विषाद में बदलने लगता है। दोनों के देश और संस्कृति अलग थे, आर्थिक स्तर और आयु में भी काफी फर्क था। दोनों अपने अतीत से जुड़े थे– नीना कुछ ज्यादा, पॉल कुछ कम। कहीं भी जाते लोग गोरे यूरोपियन पुरुष और साँवली भारतीय स्त्री को अलग ढंग से ही देखते।"[14] उसके और पॉल के दांपत्य जीवन में तनाव आने लगा। वह पॉल की जिन खूबियों की वजह से पॉल की ओर आकर्षित हुई थी, वही विशेषताएँ उसे खटकने लगी। मसलन पॉल का स्कूल शिक्षक होना, उसे अपने पद व प्रतिष्ठा के आगे कमतर लगने लगा, पॉल का स्कॉटिश पोशाक किल्ट पहनना भी उसे भद्दा लगने लगा। वह कभी उसे किल्ट पहनने के कारण 'नरक की देवी' और कभी उसकी स्वयं से ज्यादा उम्र होने के कारण बुढ़ऊ कहकर चिढ़ाती। शुरुआत में इन व्यंग्य बाणों और उपेक्षाओं को मजाक समझकर छोड़ देता, किंतु धीरे–धीरे यही छोटी–छोटी बातें उन दोनों के बीच में तनाव का बड़ा कारण बनने लगी। गलतियाँ सिर्फ नीना की तरफ से ही नहीं हो रही थीं, पॉल की जिद और स्वाभिमान भी उनके प्यार और संबंधों में घुन की तरह लग गया था। वे दोनों एक–दूसरे को बहुत प्यार करते हुए

भी एक–दूसरे को समझने के लिए तैयार नहीं थे। वह कुढ़ती हुई कहती, "जिस सवाल का जवाब एक सेकेंड में दिया जा सकता है, तुम आधा घंटा क्यों लगतो हो? इतना समझाने की क्या जरूरत? पूछने वाली कोई बुद्धू थोड़े ही है।"

"पूछने वाली नहीं, मैं हूँ बुद्धू...मैं हूँ निखट्टू, जिसने तुमसे प्यार किया, शादी की, अपना सबकुछ छोड़कर पास आ गया...."[15] वह बात–बात पर झल्ला जाता।

ऐसे अप्रत्याशित व्यवहार से नीना और कुढ़ जाती। दोनों की वैवाहिक जिंदगी तबाही की तरफ बढ़ने लगी। यद्यपि उन दोनों की यह दूसरी शादी थी। इसलिए प्रर्याप्त मतभेद होने के बावजूद भी दोनों ने इस रिश्ते को बचाने की भरसक कोशिश की। इसी प्रयास की अंतिम कड़ी उन दोनों की थाइलैंड यात्रा थी। नीना पॉल को फिर से उसी प्यार व समर्पण से जोड़ना चाहती थी, जो उनके विवाह से पूर्व उन दोनों में था। इसके लिए वह पूरा यात्रा प्लान तैयार करती है, कोई भी उन दोनों के बीच न आए, इसलिए उसने पॉल का फोन बंद कर दिया ताकि वह इन पलों को खुलकर जी सके। मगर जब इनसान का समय खराब हो तो अच्छा भी बुरा हो जाता है। यही हुआ, सारी यात्रा बहुत अच्छी गुजर रही थी, वो दोनों ही एक–दूसरे के दोबारा पास आ रहे थे लेकिन तभी कुछ ऐसा घटा कि उन दोनों का बसा बसाया घर हमेशा के लिए उजड़ गया। फोन व अन्य संपर्क साधनों के बंद होने के कारण पॉल को उसके पिता की मृत्यु की सूचना नहीं मिल पाई। तीन दिन बात जब उसे यह सूचना मिली तो वह इस सबका जिम्मेदार नीना को मानकर उस पर भड़क उठा। "मैं नीना पर कस कर चिल्लाता रहा–यह औरत...यह औरत कह कर। चुड़ैल...। मुझे उस वक्त वह किसी चुड़ैल से कम नहीं लगी। वह सकपकाई सी हतप्रभ खड़ी 'आई एम सॉरी' कहकर मुझसे माफी माँग रही थी, मगर मुझे उस पर और गुस्सा आता रहा।"[16] पॉल के इस व्यवहार ने नीना को अंदर तक झकझोर दिया। बहरहाल इस पूरे घटनाक्रम ने इस संबंध विच्छेद की नींव रख दी जिसकी पूर्ण आहुति पॉल की अपने पचासवें जन्मदिन पर रखे गए समारोह में 'किल्ट' पहनने की जिद व नीना से जुड़े झगड़े ने कर दी। आखिरकार नीना ने उससे अलग होने का निर्णय ले लिया।

इनसान की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जो भी वस्तु या व्यक्ति उसके पास होता है वह उसकी कद्र नहीं करता है। रिश्तों की अहमियत का अहसास उसे उनसे दूर जाने के बाद ही होता है। पॉल को भी अपनी जिंदगी में नीना की अहमियत का अहसास तब होता है जब वह उससे अलग हो जाती है इसे स्वीकारते हुए वह कहता है, "हाँ! एक लंबा रास्ता नीना के साथ बीता था...। फिर बहुत लोग शादी करते हैं मगर क्या वे शादी के साथ आनेवाले समायोजन, समझौते, त्याग, बलिदान, संघर्ष, परेशानियों के विषय में सोचते हैं? उनके लिए स्वयं को क्या तैयार करते हैं? हर शादी में कुछ–न–कुछ मसले होते हैं। दो इनसान, भले ही एक भाषा बोलते हैं, जब वे दोनों एक–दूसरे के महत्वपूर्ण संकेत नहीं समझते तो गलतफहमियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। दो औरतों से मैंने विवाह किया, दो–तीन लुगाइयों से मेरे अस्थायी संबंध चले, अपने अनुभवों से कहता हूँ, पति–पत्नी के लिए एक–दूसरे की भाषा से अधिक एक–दूसरे के भावों व संकेतों को समय रहते समझना अधिक मायने रखता है।"[17] काश! पॉल व नीना दोनों ही इन्हीं भावों एवं संकेतों को समझ पाते। मगर यह नहीं हुआ। नीना बेशक पॉल से बहुत अधिक जल्दी दूर हो गई मगर पॉल स्वयं को इस रिश्ते की कैद से आजाद न कर सका। वह अकेला अवसाद में जीता रहा और स्वयं को इस रिश्ते को इस कगार पर लाने का दोषी मानता रहा और इसी उम्मीद में जीता रहा कि उसकी नीना उसके पास वापिस लौट आएगी, मगर यह हो न सका। उसका यह भ्रम बहुत जल्दी टूट गया जब नीना पीटर के साथ रहने लगी। बेचारे पॉल के पास नीना की यादों के साथ रहने के सिवाय अब कोई चारा नहीं था। प्रेम में सर्वस्व अर्पित करने का भाव ही प्रेम की पूर्णता का परिचायक है। पॉल प्रेम की

इसी अवस्था को जीता है। वह अपनी कमियों को स्वीकारता हुआ, स्वयं के प्रति नीना के प्रेम और समर्पण को भी महसूस करता है। नीना अपने नए ब्वॉयफ्रैंड पीटर के साथ जीवनानंद में मग्न हो जाती है किंतु उसका भाग्य एक बार फिर उसके साथ छल करता है। वह कैंसर जैसे भयानक रोग से ग्रस्त हो जाती है।

जीवन के इस सबसे कष्टप्रद समय में नीना के पास अपना कहने के लिए उसके पॉल के सिवाय कोई नहीं बचता है। उसका वर्तमान प्रेमी अवसाद में खुदकुशी कर लेता है। नीना को जब उसकी सबसे ज्यादा जरूरत थी, वह तभी उसे और अधिक तोड़कर चला जाता है। "उसकी ब्रेन सर्जरी हुई। टयूमर की बायोप्सी से पता चला कि यह तो सेकेंडरी कैंसर है, तो प्राइमरी कैंसर कहाँ है? उसके पूरे शरीर की स्कैनिंग हुई तो पता चला कि कैंसर की शुरुआत उसके फेफड़ों से हुई थी और फैलकर मस्तिष्क तक चला गया था।"[18] नीना अपने आखिरी समय तक पॉल के प्रेम और अपनी गलती को लेकर पछताती रही। लेकिन पॉल उसे नियति का खेल कहकर दिलासा देता रहा। अंततः नीना के जाने का समय आ गया। पॉल हर रोज की ही भाँति अस्पताल में उससे मिलने गया था। पॉल एवं नीना के अंतिम मिलन की अर्चना पेन्यूली जी ने मार्मिक अभिव्यक्ति की है– "मैंने उसका हाथ थाम कर पुकारा, 'हे नीना।" उसने हल्के से अपनी आँखें खोलीं व अधमुदी आँखों से कुछ पलों के लिए मुझे ताका, फिर बंद कर ली। मेरी उपस्थिति का उसे भान है, यह उसने मुझे जतला दिया।... रात साढ़े नौ बजे, उसका हाथ दबाकर, उसका आलिंगन कर मैंने उससे विदा ली।"[19] पॉल के वहाँ से आने के आधे घंटे बाद ही नीना इस संसार से विदा हो गई। बेशक उसके जीवन में कई पुरुष आए व गए किंतु जीवन के अतिम क्षणों में पॉल की होकर गई। उसके अंत्येष्टि की रस्म में पॉल उसके पति के रूप में ही उपस्थित रहा। यद्यपि उसके पहले प्रेमी और पति ओलिवर जो कि उसकी पुत्रियों का पिता था, ने पॉल से कंधा देने तक का भी अधिकार छीन लिया तथापि वह वहाँ था, और उतना ही दुखी था, जितना उसके अन्य सगे संबंधी थे। "नीना का साढ़े तीन सालों तक कैंसर से जूझना और इस दुनिया से असमय चले जाना मुझे झकझोर गया। अपनी तरफ से मैं उसके लिए जो कर सकता था, मैंने किया। सोचता हूँ, अगर नीना से मेरा ब्रेकअप नहीं हुआ होता तो मेरे लिए उसकी बीमारी और मौत भी दुखदायी होती। यह सहना मेरे लिए और भी मुश्किल होता।"[20] नीना की मृत्यु के पश्चात् भी वह नीना की माँ के साथ उसके ही घर पर रुका रहा। नीना की माँ शीला देवी के साथ घर को खाली करवाकर वह उनसे विदा लेकर चला गया। नीना को गुजरे हुए पूरा एक वर्ष हो चुका है, उसे यह अहसास नीना की माँ शीला देवी के फोन ने कराया। जब उन्होंने पॉल को नीना की बरसी पर होनेवाली शांति सभा में आमंत्रित किया। वह नीना की बरसी में जाने को उतना ही उत्सुक था, जितना वह नीना से प्रथम मुलाकात के समय था। उसने यात्रा का कार्यक्रम बनाना प्रारंभ किया, "मंदिर मेरे घर से कोसों दूर, जीलैंड द्वीप के दक्षिण–पश्चिम छोर पर नगर नैस्ट्वेड के समीप एलेमेल्सेवाय नामक सड़क पर स्थित है और मैं जीलैंड द्वीप के उत्तरी छोर पर रहता हूँ। मैंने रायसेप्लान (यात्रा कार्यक्रम) पर अपने घर से मंदिर तक की दूरी देखी–एक–सौ–आठ किलामीटर। दो बसें व ट्रेनें मुझे बदलनी पड़ेगी। दो–ढाई घंटे लगेंगे पहुँचने में। अगर ड्राइव करूँ तो कार से डेढ़ घंटा लगेगा। क्या करूँ ड्राइव करूँ या पब्लिक ट्राँसपोर्ट लूँ? अचानक मेरे मन में विचार कौंधा– मैं पैदल जाऊँगा. ..पदयात्रा करूँगा। यस...एक उत्तेजना से मैं भर गया। अपने छोटे से घर में चहलकदमी करने लगा। एक–सौ–आठ किलामीटर की पैदल यात्रा।"[23] छप्पन वर्षीय पॉल स्कॉट का अपनी भारतीय पत्नी की शोक सभा में 108 किलामीटर पैदल चलकर जाना वाकई प्रशंसनीय एवं साहसी कदम था। वह इस यात्रा में कई मुश्किलों का सामना करता है। उसके पैसे व सामान चोरी हो जाते हैं। उसके कपड़े व जूते फट जाते हैं, लेकिन अंततः वह अपनी यात्रा पूर्ण करके मंदिर पहुँच जाता है। पॉल

की अपनी पत्नी की शांति के लिए की गई यह यात्रा डेनमार्क के अखबारों की सुर्खियाँ बन जाती है। उसकी यात्रा में मिले उसे उसके सहचर साथी, उसके अपनी पत्नी के प्रति प्रेम, समर्पण व श्रद्धा को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। "शीला देवी भीगे स्वर में मुझसे बोली–पॉल, जो तुमने नीना के लिए किया वह कोई सच्चा प्रेमी ही कर सकता है। देखो तुम अखबारों की सुर्खियों में हो। जोहना तुरंत मुझे अखबारों की हेडलाइन पढ़कर सुनाने लगी–चला आदमी रात भर प्रेयसी को श्रद्धांजलि अर्पित करने–। प्रेमी के कदमों ने खींचा डेनमार्क की धरती पर तीर्थ यात्रा का मार्ग–। प्रेमी की पदयात्रा होल्टे से स्टेयेन्सेवाय तक।"[22] निःसंदेह ही एक विदेशी व्यक्ति द्वारा भारतीय स्त्री से प्रेम की यह अद्भुत यात्रा है, जिसमें पॉल का अपनी पत्नी नीना के प्रति अगाध, प्रेम समर्पण तथा आस्था के साथ–साथ भारतीय संस्कृति के प्रति अनुरक्ति का भाव भी परिलक्षित होता है। लेखिका अर्चना पैन्यूली के द्वारा उपन्यास की कथावस्तु को लेकर किया गया यह प्रयोग अति विशिष्ट है। डॉ. सुधांशु शुक्ला प्रस्तुत उपन्यास के इसी सौंदर्यबोध को इस प्रकार से रेखांकित करते हैं, "ऐसे देश में जहाँ दो–तीन विवाह, तलाक का सिलसिला कोई नई बात नहीं है। तलाक होना, पुनर्विवाह करना, फिर तलाक लेना फिर विवाह करना अर्थात् जहाँ संबंधों का मूल्य केवल अपना व्यक्तिगत सुख होता है, वहाँ पर प्रेम का महायज्ञ कोई प्रवासी भारतीय लेखिका ही दिखा सकती है और उपन्यास की कहानी के कलेवर में यद्यपि डेनमार्क और स्कॉटलैंड की धरती है परंतु बीज भारतीय ही है। यूरोपीय दांपत्य जीवन का यह अद्भुत उपन्यास है, जिसमें परिवेश, संस्कार, संस्कृति में जन्मे पले हुए नायक और नायिका का प्रेम और हलापा, विवशताओं से उपजा अलगाव, बिखराव का बहुत ही मार्मिक विवरण मिलता है।"[23] प्रायः भारत में रहनेवाले लोगों के अंतर्मन में प्रवासी भारतीयों की परंपरागत छवि बनी होती है, जिसे तोड़कर लेखिका ने यथार्थ की नई जमीन निर्मित की है। लेखिका ने उपन्यास में विदेशियों में भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव व समर्पण की नई सृष्टि को निर्मित किया है, जिसमें नीना व उसकी बेटियाँ प्रवासी भारतीयों की नई पीढ़ी का जबकि पॉल को पाश्चात्य सभ्यता के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है। इस प्रकार पॉल की यह यात्रा अपनी पत्नी के प्रेम की समर्पण यात्रा है जिसमें दांपत्य संबंधों की सौंदर्यानुभूति का भाव निहित है। वस्तुतः यह उपन्यास विसंस्कृतिकरण का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करता है। जिससे विदेशों में बसे प्रवासी भारतीयों का अपनी मूल संस्कृति से मोहभंग दर्शाया गया है तो वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य उन्मुक्त जीवनशैली से आजिज आए 'स्कॉट पॉल' जैसे विदेशियों का भारतीयता के प्रति झुकाव परिलक्षित हुआ है। अस्तु 'पॉल की तीर्थयात्रा' दो विदेशी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के पास आने की यात्रा है; जिसमें नीना और पॉल जैसे अनेक प्रेमियों की अमर कहानियाँ समाहित हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रविंद्रनाथ टैगोर, डॉ. गणपातिचंद्रगुप्त, भारतीय साहित्य में श्रृंगार रस, पृ. सं. 45 से उद्धृत
2. कालिदास, कामार्त्ता हि प्रकृति कृषाण श्चेतानाचेतनेषु, मेघदूत, श्लोक–5
3. डॉ. विजया सती, स्त्रीः एक प्रवासी छवि, पुरवाई पत्रिका, मार्च 2010, www.thepurvai.com
4. डॉ. एस. के. भारद्वाज, पॉल की तीर्थयात्रा' (पुस्तक–चर्चा), गर्भनाल ई–पत्रिका, सुषमा शर्मा (सं.), अगस्त 2016, www.garbhanal.com
5. अर्चना, पैन्यूली, पॉल की तीर्थयात्रा, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006, प्रथम संस्करण 2016, पृ. सं. 24
6. वही, पृ. सं. 34–35
7. वही, पृ. सं. 23
8. वही, पृ. सं. 23–24
9. वही, पृ. सं. 28
10. वही, पृ. सं. 36
11. वही, पृ. सं. 31
12. वही, पृ. सं. 47
13. वही, पृ. सं. 62

14. डॉ. मधु संधु, 'पॉल की तीर्थयात्रा (समीक्षा), साहित्य कुंज, www.sahityakunj.net
15. वही, पृ. सं. 65
16. वही, पृ. सं. 68–69
17. वही, पृ. सं. 105
18. वही, पृ. सं. 153
19. वही, पृ. सं. 173
20. वही, पृ. सं. 153–154
21. वही, पृ. सं. 16
22. वही, पृ. सं. 192
23. डॉ. सुधांशु शुक्ला, पॉल की तीर्थयात्रा, अद्‌भुत प्रेम कथा, IR JMSH, Vol. 10, Issue 7, वर्ष 2019, पृ. सं. 279

– शोधार्थी, हिंदी विभाग, चौ. चरण सिंह विश्वविद्‌यालय, मेरठ

❑❑❑

संपर्क सूत्र

1. डॉ. मनीष कुमार मिश्रा, हिंदी व्याख्याता, के. एम. अग्रवाल महाविद्यालय, कल्याण पश्चिम, महाराष्ट्र
   डॉ. उषा आलोक दुबे, हिंदी व्याख्याता, एम. डी. महाविद्यालय, परेल, महाराष्ट्र
2. श्री पंचराज यादव, शोधार्थी (हिंदी विभाग), तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम–784028
3. डॉ. हरेंद्र सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, ज़ाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
4. सुश्री निहारिका मिश्रा, हिंदी अध्यापिका, वेदव्यास महाविद्यालय, राऊरकेला, ओड़िशा
5. डॉ. प्रफुल्ल कुमार, सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, पीजी सेंटर, सहरसा, बिहार
6. डॉ. रवि शर्मा 'मधुप', सुर–सदन, डब्ल्यू. जेड. 1987, रानी बाग, दिल्ली–110034
7. श्री केदार प्रसाद मीणा, एसोसियेट प्रोफेसर हिंदी, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, शेख़ सराय–2, नई दिल्ली–110001
8. श्री बिर्ख खडका डुवर्सेली, आमा खडकालय, दुर्गागढ़ी, प्रधाननगर, दार्जीलिंग–734003
9. डॉ. के. श्रीलता विष्णु, 3 ए 4, निकुंजम हेरिटेज पल्लीमुक्कु, पेट्टा. पि. ओ. तिरुवनंतपुरम, केरल–695014
10. डॉ. अमिता तिवारी, एसोसिएट प्रोफेसर, जीसस एंड मेरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
11. श्रीमती रजत रानी मीनू (आर्य), 1/122, वसुंधरा, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश–201012
12. डॉ. विधि शर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अदिति महाविद्यालय, दिल्ली
13. डॉ. प्रदीप कुमार, 5, एकलव्य अपार्टमेंट, सेक्टर–13, रोहिणी, दिल्ली–110085
14. डॉ. अमृत कुमार, एफ–205/1, मुनिरका, नई दिल्ली–110067
15. डॉ. वेद मित्र शुक्ल, असिस्टेंट प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, राजधानी महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) राजा गार्डन, नई दिल्ली–110015
16. डॉ. दादूराम शर्मा, महाराज बाग, भैरवगंज, सिवनी, जिला–सिवनी, मध्य प्रदेश–480661
17. डॉ. पंकज साहा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर, प. बंगाल–721305
18. श्री दिलीप कुमार, मालती कुंज कॉलोनी, आनंद बाग, बलरामपुर, उत्तर प्रदेश–271201
19. सुश्री निवेदिता झा, एफ/25/51, ग्रीन व्यू अपार्टमेंट, सेक्टर 3, रोहिणी, दिल्ली–110085

20. सुश्री संतोष श्रीवास्तव 'सम', बरदे भाटा, कांकेर, जिला कांकेर–छत्तीसगढ़–494334
21. प्रो. फूलचंद मानव, साहित्य संगम, 239, दशमेश एंक्लेव, ढकौली, जीरकपुर, (चंडीगढ़ के पास)–160104
22. प्रो. योगेश्वर कौर, साहित्य संगम, 239 दशमेश एंक्लेव, ढकौली, जीरकपुर (चंडीगढ़ के पास)–160104
23. डॉ. गंगेश गुंजन, पारस टियरा, टावर–8, फ्लैट नं. 102, सेक्टर–137, नोएडा–201305
24. श्री सुनील गंगोपाध्याय, फ्लैट नं. ए 2/9, 24, मैंडाविल गार्डन, कोलकाता–700019
24. दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात', हैजलवुड स्कूल पोस्ट : सोंढ़ा, हेमनगर (बाजार समिति के पास), छपरा सारण, बिहार–841302
26. डॉ. मनोरजंन विसोई, स्नातकोत्तर ओड़िया विभाग, ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय, भंज विहार, ब्रह्मपुर, गंजाम, ओड़िशा–760007
27. श्री यज्ञदत्त सामंतराय, सामंतराय भवन, कविसूर्य नगर, गंजाम, ओड़िशा–761104
28. डॉ. कल्पना शर्मा, शा. कमलाराजा कन्या स्नातकोत्तर, स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर, मध्य–प्रदेश
29. श्री योगेंद्र सिंह, शोधार्थी, हिंदी विभाग, चौ. चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

❑❑❑

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र

सेवा में,

निदेशक

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,

शिक्षा मंत्रालय, पश्चिमी खंड–7, आर. के. पुरम्, नई दिल्ली – 110066

ई.मेल – chdsalesunit@gmail.com

फोन नं. – 011–26105211 एक्सटेंशन नं. 201, 244

महोदय/महोदया,

कृपया मुझे भाषा (द्वैमासिक पत्रिका) का एक वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए/ दस वर्ष के लिए/ बीस वर्ष के लिए दिनांक ..... से सदस्य बनाने की कृपा करें। मैं पत्रिका का वार्षिक/ पंचवर्षीय/ दसवर्षीय/ बीसवर्षीय सदस्यता शुल्क ..... रुपए, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट सं. ..... दिनांक ..... द्वारा भेज रहा/रही हूँ। कृपया पावती भिजवाएँ।

नाम : .....

पूरा पता : .....

.....

.....

मोबाइल/दूरभाष : .....

ई–मेल : .....

संबद्धता/व्यवसाय : .....

आयु : .....

पूरा पता जिस पर : .....

पत्रिका प्रेषित की जाए .....

सदस्यता	शुल्क डाक खर्च सहित
वार्षिक सदस्यता	रु. 125.00
पंचवर्षीय सदस्यता	रु. 625.00
दसवर्षीय सदस्यता	रु. 1250.00
बीसवर्षीय सदस्यता	रु. 2500.00

डिमांड ड्राफ्ट निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए। कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम एवं पूरा पता भी लिखें।

नाम एवं हस्ताक्षर

नोट : कृपया पते में परिवर्तन होने की दशा में कम से कम दो माह पूर्व सूचित करने का कष्ट करें।

पंजी संख्या. 10646/61
ISSN 0523-1418

भाषा (द्वैमासिक)
BHASHA-BIMONTHLY
पी. ई. डी. 305-4-2021
700

भाषा

जुलाई–अगस्त 2021

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066
www.chdpublication.mhrd.gov.in
प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली – 110064 द्वारा मुद्रित